योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 31 अक्टूबर, 1998 अंक 7

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन, संवाई (आगरा) - 283 202

SIDDHYOG

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति	रु०	7·00
वार्षिक शुल्क	रु०	70·00
द्विवार्षिक	रु०	130·00
आजीवन	रु०	700·00

इस अंक में

- स वै निवृत्तिधर्मेण 1
- अमृत कण 2
- योगी को काल का ज्ञान (विशेष लेख) .. 3
  योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज
- युग पुरुष सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
  (सम्पादकीय) 8
- पूर्व जन्म का ज्ञान और उसका उपयोग
  प्रो. आचार्य चन्द्रहास शर्मा 11
- भक्तियोग के द्वारा परमात्मा का मिलन सम्भव
  डॉ. स्वामी केशवाचार्य 19
- भूमविद्या का साधन-साध्य-दो
  डॉ. उर्वशी जे. सूरती 23
- यौगिक विचार-प्रसून
  योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज 30
- समस्त साधनाओं की नींव श्रद्धा
  ब्र. ओमप्रकाश 34
- श्रीसद्गुरुदेव तेजांश : जनकजी
  अशोक द्विवेदी 37
- महिमानमिति वीतशोकः ....

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 31 अंक 7

अक्टूबर 1998

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

स वै निवृत्तिधर्मेण वासुदेवानुकम्पया।
भगवद्भक्तियोगेन तिरोधन्ते शनैरिह।।
यदेन्द्रियोपरामोऽथ द्रष्ट्रात्मनि परे हरौ।
क्लियन्ते तदा क्लेशाः संसुप्तस्येव कृत्स्नशः।।

(श्रीमद्भागवत् ३/७)

अर्थात्

निष्कामभाव से धर्मों का आचरण करने पर भगवत् कृपा से प्राप्त हुए भक्तियोग के द्वारा यह देहाभिमानी जीव में ही देह के मिथ्याधर्मों की प्रतीति धीरे–धीरे निवृत हो जाती है। जिस समय सभस्त इन्द्रियाँ विषयों से हटकर साक्षी परमात्मा श्री हरि में निश्चलभाव से स्थित हो जाती हैं, उस समय गहरी निद्रा में सोये हुए मनुष्य के समान जीव के राग द्वेषादि सारे क्लेश सर्वथा नष्ट हो जाते हैं।

अमृत कण

वासनावृद्धितः कार्ये कार्यवृद्धया च वासना।
वर्द्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्तते।।

(विवेक चूड़ामणि ३१४)

वासनाओं के बढ़ने से कार्य भी अधिक होते हैं। इधर कार्यों की वृद्धि से वासनाएं भी नयी–नयी खिल उठती हैं। इस तरह के चक्र में फँसा हुआ व्यक्ति कभी सांसारिक उलझनों से मुक्त नहीं हो सकता।

* * *

ममताभिमान शून्यो विषयेषु पराङ्मुखः पुरुषः।
तिष्ठन्नपि निजसदने न वाध्यते कर्मभिः क्वापि।।

(प्रबोध सुधाकर श्लोक ८०)

जिनके मन में थोड़ी भी ममता, अहकार न हो और जो विषयी न हो ऐसा व्यक्ति अपने घर में रहते हुए भी कर्मों द्वारा बाधित नहीं होता।

* * *

योगारुढ़स्य सिद्धस्य कृतकृतयस्य धीमतः।
नास्त्येव हि वहिर्दृष्टिः का कथा तत्र कर्मण्यम्।।

(सर्ववेदान्त–सिद्धान्त–सार–संग्रह ८६५)

योगारुढ़ सिद्धपुरुष का कोई कार्य शेष नहीं रहता। उसकी दृष्टि में वाह्य जगत या वस्तुऐं हैं ही नहीं। उसकी अन्तर्मुख दृष्टि आत्मविवेचन में सब कुछ ईश्वर–ही–ईश्वर देखती है।

* * *

कर्मणं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मवन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्य नामयम्।।

(गीता २/५)

बुद्धियोग युक्त ज्ञानीजन कर्मों से होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से छूटे हुए निर्दोष अर्थात् अमृतमय पर को प्राप्त होते हैं।

विशेष लेख

योगी को काल का ज्ञान

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने पिछले किसी अंक में योगी की अन्तर्धान क्रिया का वर्णन किया था। और उसके सन्दर्भ में इन क्रियाओं को प्रत्यक्ष रूप में देखने वाले महात्मा आनन्द स्वामी की एक घटना का उल्लेख करते हुए उसे स्पष्टतया यह बतलाने का प्रयत्न किया था कि आज कलिकाल के घोर क्लेशमय वातावरण में भी इस प्रकार के अभ्यासी योगी यहाँ मिलते है, जिन्होंने शास्त्रीय विधि से अभ्यास बढ़ाकर यौगिक क्रियाओं की सार्थकता को यथार्थ रूप से पहचान लिया है। अन्तर्धान क्रिया के बाद योग दर्शन में **अपरान्त ज्ञान** का प्रकरण आता है। योगी अपने कर्म विपाक को भोगता हुआ अपने प्रारब्ध को कब समाप्त कर रहा है, इस बात को कोई सांसारिक मरणधर्मा जीव तो जान ही नहीं सकता, किन्तु जो योगी संयमित चित्त हो चुका है, वह अपने भोगे जाने वाले कर्म के अन्दर संयमन करे तो उस उपभोग की समाप्ति कब हो रही है और उसका इस पंच भौतिक शरीर से कब वियोग हो जायेगा—इसको भली प्रकार जान सकता है। योग दर्शन में महर्षि पतंजलि महाराज ने अपरान्त ज्ञान के दो उपायों का निदर्शन किया है। सूत्र इस प्रकार है—

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म
तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।

अर्थात्—सोपक्रम कर्म के द्वारा और निरुपक्रम कर्म के द्वारा संयमित चित्त वाला योगी काल ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। अथवा मृत्यु से पहले प्रकट होने वाले चिन्हों के द्वारा योगी को काल का ज्ञान हो जाता है। इस सूत्र पर **व्यास भाष्य** की पंक्तियों का सार इस प्रकार है—

आयु रूप फल को देने वाला कर्म दो प्रकार का होता है। एक उपक्रम सहित जल्दी योग देने वाला दूसरा उपक्रम रहित शनैः-शनैः देर में फल देने वाला उदाहरण के रूप में इस बात को इस प्रकार समझ लेना चाहिए। जैसे गीला वस्त्र यदि निचोड़ कर सुखाया जाये तो वह धूप और हवा में सुखाया हुआ बहुत ही जल्दी सूख जाया करता है। इसी को **सोपक्रम कर्म** कहते हैं। इसके अतिरिक्त उसी गीले वस्त्र को लपेटकर गोला बनाकर किसी ठण्डे स्थान में रख दिया जाय तो वह बहुत लम्बे समय में सूख पायेगा, सूखने वाला वस्त्र एक ही है। उसको उपक्रम वाले साधनों के साथ सुखाया जायेगा तो वह जल्दी सूख जायेगा और इसी प्रकार से वह गीला वस्त्र जहाँ कोई भी सुखाने का साधन न हो वहाँ पिण्ड बनाकर रख दिया जाये तो वह सूखेगा तो सही किन्तु लम्बे समय तक सूख पायेगा। यही हिसाब सोपक्रम और निरुपक्रम का है। यदि हमारा प्रारब्ध कर्म तीव्र संवेग के साथ जल्दी-जल्दी भोग में आ रहा है, तो उसकी तीव्र गति के अनुसार वह अपने प्रारब्ध का फल जल्दी-जल्दी दे डालेगा। और उस प्रारब्ध योग के जल्दी समाप्त होने पर आयु की समाप्ति का भी समय जल्दी आ जायेगा। इसके अतिरिक्त जो लोग निरुपक्रम कर्म

वाले हैं, उनका प्रारब्ध योग सपिण्डाकार बने गीले वस्त्र के समान भोग में आ रहा है और वह उस आयु का भोग लम्बे समय तक देता रहेगा। अतः उसकी आयु लम्बे समय तक बनी रहेगी।

इसी विषय को समझाते हुए भगवान व्यास देवजी ने अग्नि और काष्ठ का उदाहरण देकर **सोपक्रम** एवं **निरूपक्रम** कर्म को समझाया है। जैसे सूखे तिनकों या काष्ठ में डाली हुई अग्नि वायु का सहयोग पाकर उस काष्ठ को बहुत जल्दी जला डालती है। इसी प्रकार से सोपक्रम कर्म उपयुक्त साधनों के साथ भुगतान किया हुआ प्रारब्ध कर्म को जल्दी समाप्त कर डालता है, और शरीर की अवधि आ जाती है। और वही अग्नि जो शुष्क काष्ठ में डाली गई थी। उसने वायु के सहयोग को पाकर काष्ठ को जल्दी जला दिया था। उसी प्रकार यदि उसको गीले काष्ठ समूह में डाल दिया जाए अथवा धान्य तृणों में डाल दिया जाय तो उनको शनैः-शनैः जलाती हुई बहुत समय में जला पायेगी। इसी प्रकार निरूपक्रम कर्म भी मनुष्य के प्रारब्ध को शनैः-शनैः भुगतान कराता हुआ भुज्यमान प्रारब्ध को लम्बे समय तक भुगतान कराकर छोड़ता है। अब रही केवल एक बात कि संस्कारों का साक्षात्कार करने वाले योगी की अपनी योग्यता क्या है। उसका संयम कितना है। वह अपने कर्मों को देख भी सकता है या नहीं, मन में होने वाली प्रत्येक चेष्टा जो क्रियात्मक रूप से स्थूल में भी प्रगट होती रहती है—उसी का नाम कर्म है। मन चंचल है इन्द्रियां अपने प्रमुख द्वारों द्वारा मन को बाह्य विषयानुरागी बनाती है। मन का बाह्य विषयानुरागी ही क्रियात्मक होने से कर्म का रूप धारण कर लेता है। इसी का नाम कर्म है। यह सब हरकते अन्तः करणावस्थित कर्माशय में अव्यक्त रूप से प्रसुप्त के मानिन्द पड़ी रहती है। और मनुष्य पशु-पक्षी या अन्यान्य योनियों में शरीर धारण कर व उन शरीरों में प्रकट होकर अपना भोग देने लगती है। कर्म गति बहुत गहन है।

जिस प्रकार एक लम्बे रास्ते को तय करने के लिए विविध प्रकार के साधन हुआ करते हैं। उसी प्रकार से प्रारब्ध के भुगतान की गतियाँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। जिस प्रकार एक मनुष्य पदाति चलता है और समुद्र पार बसने वाले अमेरिका आदि देशों में जाना चाहता है, तो उसके लिए यथार्थ है कि पर्वतों की संधियों से चलते हुए या पानी के जहाज से जाते हुए कई वर्षों का समय लग सकता है। किन्तु वही व्यक्ति अच्छी गति वाले हवाई जहाज से यात्रा करता है तो उन देशों में एक दो दिन में पहुँच जायेगा। इसी प्रकार से कर्मों के भुगतान की बात भी है। एक योगी जो ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा बन चुका है एवं समर्थ है वह अपने लम्बे समय में भुगतान में आने वाले कर्मों को पूरी जिन्दगी में भोग पायेगा। इसी प्रकार के भुगतान को भगवान पतंजलि देव ने **सोपक्रम-निरूपक्रम** रूप से वर्णित किया है। योगी को अपने योगाभ्यास के बल से जो दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाया करती है उसी के प्रभाव से वह अपने कर्माशय में अपनी सूक्ष्म एवं दीर्घ कर्मों की चेष्टाओं को देख लेता है और यह जान लेता है कि मेरा अमुक कर्म कलाप इतना लम्बा और दृढ़ है। उसका भुगतान इतने समय के अन्दर हो पायेगा। इसके इस भुगतान के बाद मेरा यह शरीर जो इसी प्रारब्ध के भोग निमित हुआ है समाप्त हो जायेगा। यह है योगी का सोपक्रम एवं निरूपक्रमों में निरूपक्रम कर्मों में संयम करके **अपरान्त ज्ञान** का प्रकार।

यह ज्ञान केवल योगी को हो सकता है, हर व्यक्ति को नहीं। यदि उस योगी ने धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास को क्रमशः नियमानुसार किया हो

और समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच गया हो। कितने ही योगी इस प्रकार के होते हैं जो संयम से निम्न श्रेणी समाधि को भी पार नहीं कर पाते किन्तु उनकी भावना रहती है कि वे लोग संयम के फल के दृष्टा बन जायें। भगवान पतंजलि देव ने—

"**त्रयमेकत्रसंयम्**" कहकर के समाधि की ही उत्कृष्ट स्थिति, अर्थात् शुद्ध स्थिति को संयम कह करके परिभाषित किया है। मनुष्य जब तक धारणा ध्यान और समाधि की परिभाषाओं को समझकर संयम तक न पहुँच जाये तब तक वह ज्ञान–विज्ञान तृप्तात्मा नहीं कहला सकता और सूक्ष्म दर्शक नहीं हो सकता— जो योगी एकान्तवास करते हुए सभी प्रकार की लौकिक इच्छाओं का परित्याग करके विरक्त भाव से रहते हैं एवं प्रातःकाल से लेकर सायंकाल तक अपने अभ्यास में लगे रहते हैं, वे शनैः शनैः समाधि में आरूढ़ हो जाते हैं, और इनके इस अपने अभ्यासकाल में परमगुरु ईश्वर की अनुकम्पा से विशेषाविशेष सभी तत्वों का प्रकाश होने लगता है। समाधि प्रज्ञा पुष्ट होती रहती है। और योगी अपनी पवित्र मेधा के द्वारा सूक्ष्म तत्वों का ज्ञाता बन जाता है। यह नितान्त आवश्यक है कि योगाभ्यासी विषयलोलुप न हो, उसका मन संसार की तृष्णाओं में भटकता न हो।

"इदं मया लब्धं इदं प्राप्स्ये च मनोरथम्"

अर्थात् यह मैंने आज प्राप्त कर लिया यह मैं कल प्राप्त करूँगा ऐसी तृष्णायें उसको विचलित न करती रहती हों। तब वह योगी समाधि प्रज्ञा के बल से सूक्ष्मतात्सूक्ष्म तत्वों को पहचान लेने की योग्यता को थोड़े समय के अन्दर प्राप्त कर लिया करता है। इस प्रकार के अभ्यास बल के द्वारा योगी संयम सिद्ध योगी बन जाए तभी वह अपने सोपक्रम एवं निरुपक्रम वाले कर्मों को पहचानने वाला बन जाता है। और उसी आधार पर उस योगी को अपरान्त ज्ञान अर्थात् अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाया करता है। इसके अतिरिक्त सूत्र के दूसरे भाग में भगवान पतंजलि देव ने अरिष्टों के द्वारा काल ज्ञान की बात को कहा है। वह विषय इस प्रकार का है जो प्रायः सभी सांसारिकों को हुआ करता है।

अरिष्टों के द्वारा काल ज्ञान

योग दर्शन के व्यास भाष्य में तीन प्रकार के अरिष्टों का सार्थक वर्णन किया गया है। जिसमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आदि दैविक ये तीन प्रकार के अरिष्ट अर्थात् लक्षण ऐसे होते हैं, जिससे हर एक संसारी व्यक्ति अपने मृत्यु समय को जान लिया करता है।

आध्यात्मिक अरिष्ट

हमारे शास्त्रों का इस प्रकार का निर्णय है। अध्यात्म मार्ग की ओर बढ़ने वाले व्यक्ति जो विरक्त भाव से परम श्रेय लाभ करना चाहते हैं वे लोग नादानुसन्धान में लगे रहते हैं। **अध्यात्म नाद** हर व्यक्ति के शरीर में प्रतिक्षण उठता रहता है। योगी लोग इस नाद का साक्षात्कार करके एवं अपने कर्णेन्द्रियों के बाहरी द्वारों को बंद करके उसको प्रतिक्षण सुनते रहते है। और इसके भ्रूमध्य में चक्षुनिष्पिणन क्रिया के द्वारा अन्तर्ज्योति को देखते रहते हैं। कोई व्यक्ति इस प्रकार का हठ अभ्यासी न भी हो तो भी अपने कर्ण रन्ध्रों को उंगलियों से बंद करके यदि उस नाद को सुनना चाहे तो अवश्य ही सुन सकता है। एवं चक्षुनिष्पीड़न के द्वारा यदि ज्योति दर्शन करना चाहे तो वह भी थोड़ा बहुत हरेक को हो ही सकता है। किन्तु जिसकी मृत्यु निकट भविष्य में ही होने वाली है वह उस अध्यात्म घोष को कान बंद करने पर भी नहीं सुनता एवं चक्षुनिष्पीड़न करने पर भी उस अध्यात्म ज्योति को

नहीं देखता जिस व्यक्ति को इस प्रकार का अनुभव न हो उसको समझ जाना चाहिए कि वह काल का ग्रास है एवं उसकी मृत्यु निकट भविष्य में ही होने वाली है। इसका नाम आध्यात्मिक अरिष्ट है।

आधिभौतिक अरिष्ट

साधारण रहन–सहन में रहने वाला व्यक्ति दुःस्वप्नों को देखे। काल, योगिनी, यम, पुरुष, यमदूत अन्य भयंकर दृश्यों को देखे तो यह उसके लिए निकट भविष्य में होने वाली उसकी मृत्यु का एक चिन्ह है। ऐसे लक्षण थोड़ा बहुत भजन करने वाले या न करने वाले सांसरिकों को प्रकट होते रहा करते हैं। इसी को आधिभौतिक अरिष्ट कहते है

आधिदैविक अरिष्ट

ये सभी प्रकार के अरिष्ट मनुष्य की आध्यात्मिक प्राति के अनुसार जैसी जिसकी स्थिति है उसके अनुसार प्रगट हुआ करते है। आधिदैविक अरिष्टों के अन्दर मनुष्य अकस्मात् सिद्धों के दर्शन करने लगे, स्वर्गादि लोक–लोकान्तर दिखाई देने लगे, देवता और उनकी स्त्रियों के दर्शन होने लगे स्वर्गीय बन, उपवन उद्यान आदि दिखने लगे तो समझ लेना चाहिए कि ऐसे व्यक्तियों की मृत्यु निकट ही है। किन्तु यह सब बातें उन व्यक्तियों के लिये है जो कभी भी आध्यात्मिक प्रगति की ओर बढ़े ही नहीं हैं। अध्यात्म शील, विवेकी साधक अपने योगाभ्यास से नित्य ही स्वर्ग आदि लोक लोकान्तरों के दर्शन प्राप्त किया करते हैं। और सिद्धों के दर्शन प्राप्त किया करते हैं। अनेक प्रकार के वरदान भी वे प्राप्त करते हैं, वह उनका अपना अध्यात्म प्रकाश है। सदा सर्वदा आयुवर्धक एवं कल्याणकारी है। जो योगी अपने योगाभ्यास में सिद्धों के वरदान प्राप्त करता है, समझ लेना चाहिये वह अजरत्व एवं अमरत्व की ओर बढ़ रहा है। इसके अतिरिक्त मृत्युकाल में जिनकी प्रकृतियां विपरीत बन जाया करती हैं यानि धर्मात्माओं के अन्दर अधर्म प्रवृत्ति में बन जाया करती है, कंजूस स्वभाव के उदार हो जाते हैं, जो जीवनभर कर्कश स्वभाव के कटुभाषी और कठोर बन कर रह रहे हों, उनकी वाणी अमृत के समान मीठी हो जाती है यह भी उनके अपरान्त की एक निशानी है। ये सब कुछ अकस्मात् हो तो समझ लेना चाहिये इस व्यक्ति का अपरान्त काल उपस्थिति हुआ और यदि वह व्यक्ति अपने जीवन भर के अभ्यास से अपने आपको तपपूर्ण बना चुका है तो उसके शरीरान्त के समय उत्कृष्ट चिन्ह स्वाभाविक भी हो जाया करता है। इसलिए साधक को चाहिये कि अपने जीवनकाल में वह अपने आपको सत्वस्थ बना ले। कम से कम उत्कृष्ट लोकों का अधिकारी बन जावे अखिलात्मा भगवान श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवत् गीता में स्वयं यह बतलाया है–

उर्ध्वंगच्छन्ति सत्वस्था।
मध्ये तिष्ठति राजसा।।
जघन्य गुणवृत्तिस्था।
अधो गच्छन्ति तामसा।।

अर्थात् सत्वस्थ व्यक्ति उच्च लोकों के अधिकारी बन जाते हैं। और रजोगुण प्रधान व्यक्ति मनुष्य लोक में बार–बार जनम लिया करते हैं। और जो लोग घृणित स्वभाव वाले, जघन्य वृत्तियों वाले तमसावृत्त होते है, वे नीचे के लोगों में तलवितल रसातल, पाताल आदि के अन्दर जन्म लिया करते हैं। उपरोक्त अरिष्टों को समझकर साधक को दृढ़तर प्रयत्न में लग जाना चाहिये। जितनी अधिक से अधिक वह कमाई कर सके कर लेना चाहिये– समय निकल जाने पर पश्चाताप से कोई लाभ नहीं है–

काल चिरैया चुग रही,
निशदिन आयू खेत।
फिर पछताये काहोयगो,
जब चिड़िया चुग जांय खेत।।

***

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया
चक्षुरुन्मीलितम् येन तस्मै श्री गुरवे नमः

योगयोगेश्वर सद्‌गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादकीय

युग पुरुष सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

जन्म जयन्ती के पर्व पर विशेष

(आचार्य ब्र. दासलाल शर्मा)

इस धराधाम पर अवतार, योगी या सद्गुरु जब आते हैं प्रकृति, ऋतु एवं शुभ घड़ी को देखकर अपने को प्रकट किया करते हैं। परम गुरुदेव महाप्रभु रामलाल जी महाराज को चैत्र नवरात्रों में नवमी के दिन अपने को प्रकट किया तो नित्य स्मरणीय सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज आश्विन नवरात्रों में दशमी के दिन प्रकट हुये। सद्गुरु जब मानव देह में आते हैं तो उनके संस्कारी सभी जीव सद्गुरु की प्रेरणा से उस काल में मनुष्य देह धारण कर पृथ्वी पर आते हैं। और सद्गुरु के अभय चरण शरण को पाकर योग के दिव्यामृत को पाकर सदा–सदा के लिये जन्म मृत्यु से मुक्त होकर अविनाशी पद को पा जाते हैं। शिष्य को गुरुदेव दिव्य जीवन प्रदान करते हैं। इसलिये मनुष्य का सद्गुरु जैसा परम कल्याण करने वाला और कोई हो नहीं सकता। जो शिष्य के आठ प्रकार के पाशों को काटकर उसे परमानन्द प्रदान करते हैं– उसे सद्गुरु कहते हैं। निम्न श्लोक देखें–

करूणाखण्ड पातेन छित्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्द जनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते।।

अर्थात् जो अपनी करुणा कृपा के दृष्टिपात से निज बालक के जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, काम क्रोध, मोह एवं अहंकार के पाश को काटकर दिव्य आनन्द प्रदान करते हैं वे सद्गुरु कहलाते हैं।

ऐसे ही अपने शिष्यों के पाशों को काटकर योग के दिव्य जीवन को देने वाले हमारे गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज हैं। सद्गुरु की महिमा को सन्तों और योगियों ने जिस प्रकार से गाया है वह सर्वविदित है। उनमें से कुछ ने तो यहां तक कह दिया– **गुरु न तजौं हरि तज डारौं।** अर्थात् भगवान को छोड़ सकते हैं किन्तु गुरुदेव को छोड़ नहीं सकते। इस प्रकार के सद्गुरु एक निष्ठ गुरु भक्तों की दृष्टि में गुरुदेव का स्तर ईश्वर से भी ऊँचा हो जाता है। **'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन'** इस भगवद्वचन के अनुसार सद्गुरु युग–युग में अपने संस्कारी जीवों को अपने पास आकृष्ट कर उसे परम सत्य का मार्ग बताते हुये अपने सानिध्य से कृतकृत्य करते हैं। हमारे परम गुरुदेव योगेश्वर महाप्रभु रामलाल जी महाराज ने अपने संस्कारी बच्चों के उत्थान के लिये पृथ्वी मण्डल पर आकर एक साथ अनेक शरीर बनाकर अनेक स्थानों पर रहकर योग का पवित्र मार्ग बताया और शक्तिपात करके उनका आत्मोत्थान किया। हमारे गुरुदेव पूज्यपाद योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज बताया करते थे कि श्री महाप्रभु जी एक ही समय में श्री सिद्ध गुफा संवाई में रहे अवागढ़ एटा में रहे, नासिक में रहे तथा बंगाल में रहे। इस प्रकार निर्माण काय से अनेक स्थान पर प्रकट होकर उन्होंने योगोपदेश तथा शक्तिपात करके सैकड़ों व्यक्तियों को योगारूढ़ बनाया था। सिद्धगुरु किस–किस

प्रकार से, कैसे-कैसे शरीर धारण कर लिया करते है इस बात को सामान्य मनुष्य जान नहीं सकता।

सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज महाप्रभु जी से सकल योग शक्ति पाकर कृतकृत्य हुये हिमालय की ओर प्रस्थान करने ही वाले थे कि महाप्रभु रामलाल जी महाराज का उन्हें ठीक समय पर आज्ञा पत्र मिला। उसमें लिखा था- 'चि० हम बस्तियों में बैठे हैं और तुम जंगलों की ओर जा रहे हो ! ऐसा मत करो। जो कदम आगे बढ़ाया है उसे पीछे हटा लो। अभी हमने तुमसे बहुत काम लेना है। हमारे असंख्य संस्कारी बालक तुमसे शक्ति पाकर हमारे पास पहुँचेंगे। महाप्रभु जी की इस आज्ञा को मानकर ही श्री गुरुदेव जी ने जंगलों में जाने का विचार त्याग दिया। अस्तु !

महाप्रभु जी के सन् १९३८ में नेपाल चले जाने के दो तीन वर्ष बाद वे सन् १९४२ में उनकी तपस्थली संवाई सिद्ध गुफा आ गये। अपने गुरुदेव के योग प्रचार की आज्ञा को मानकर योग का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। आरम्भ में साधकों पर तीव्र शक्तिपात हुये जिसके फलस्वरूप साधकों को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो गई इस ऋतम्भरा प्रज्ञा के लिये ही योगी लोग कन्दराओं में साधनारत रहकर चित्तशोधन किया करते हैं। गुरुदेव ने अनेकों को सिद्ध बनाकर जंगलों में भेज दिया। हमारे प्रभु जी की इस परम्परा की एक बहुत बड़ी विशेष बात यह है कि इसमें जिस साधना को अपनाया गया है वह साधना उन योगियों की साधना है जो सब कुछ त्यागकर विरक्त होकर कन्दराओं में जाकर किया करते हैं। गुरुदेव ने सहज में ही वह साधना अपने सभी गृहस्थ बच्चों को बताई है जिसका अवलम्ब लेकर घर में रहकर साधनारत रहता हुआ व्यक्ति योग की भूमिकाओं को प्राप्त होता हुआ परम सत्य की ओर चला करता है। पूर्वकृत सत्कर्मों के फलस्वरूप ही घर में बैठे हुये ही वह अमूल्य निधि मिल गई है जो हमारे परम श्रेयस का कारण है। गुरुदेव ने सिद्ध गुफा संवाई में रहकर अपना योग प्रचार प्रारम्भ किया।

श्री गुरुदेव जी कहा करते थे कि प्रभु जी के परम तेज से यह गुफा व्याप्त है। यहीं से वर्तमान में सारे संसार को अध्यात्म प्रकाश मिल रहा है। वस्तुतः देखा जाये तो श्री प्रभु जी ही उन योगियों के उत्थान के मूल कारण हैं जिनका संसार में नाम है जिन्होंने संसार को कुछ दिया है। श्री महाप्रभु जी की अमोघ संकल्प एवं कृपाकण से ही साधक की दिव्य शक्तियाँ जागृत हो जाया करती हैं और वे लब्ध मनोरथ हो जाया करते हैं। उन परम योगेश्वर की जिन पर थोड़ी सी दृष्टि भी पड़ जाती है उसके कल्याण का स्रोत खुल जाता है। महान पुरुषों के चरणों में बैठकर ही उनकी महानता में परमात्मा की महानता की झलक मिलती है। गुरुदेव कितने महान होते हैं इस बात का पता तभी चल सकता है जब हमें ऐसे गुरुदेव के चरणों में बैठने का लम्बे समय तक सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। महापुरुष वस्तुतः कोई बन नहीं सकता है ! या तो वे बने बनाये इस पृथ्वी पर आते हैं अथवा बनाये जाते हैं। किसी महापुरुष की महानता का आकलन करने के लिये उनके संकल्प, विचार एवं कार्य ही मापदण्ड हुआ करते हैं। महापुरुषों की भाँति अन्य लोग भी संसार में पूज्य बनना चाहते हैं किन्तु उनमें महानता हुआ नहीं करती है। महापुरुषों का अभिनय तो वे लोग करते हैं किन्तु भीतर से वे लोग हल्के ही हुआ करते हैं। महापुरुषों के कार्य ही उनकी भीतरी शक्ति का परिचय दे दिया करते हैं।

गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का जीवन बाल्यावस्था से ही तमोमय रहा। वे जन्मजात सिद्धि

शक्ति सम्पन्न महापुरुष थे। उन्होंने अपनी बाल्यावस्था के विषय में बताया है कि वह उठते—बैठते सोते उस परम प्रकाश से युक्त रहा करते थे और दिव्य दर्शन एवं अनुभूतियाँ शैशव काल से ही होती रही थीं। महाप्रभु जी ने नेपाल से आकर सिद्धयोग एवं शक्तिपात दीक्षा की नींव रखी गुरुदेव ने उस परम्परा को आगे बढ़ाते हुये उसका बहुत प्रसार व प्रचार किया। महाप्रभु जी के अनेक शक्तिसम्पन्न शिष्य हुये हैं उनमें योगिराज चन्द्रमोहन जी का नाम सर्वप्रथम आता है। जितना देश विदेश में गुरुदेव ने योग का शुद्ध प्रचार किया उतना उस समय में वस्तुतः अन्य किसी से नहीं हुआ। शास्त्रों में लेख मिलता है कि सद्गुरु को श्रोत्रीय एवं ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। हमारे गुरुदेव श्रोत्रीय एवं ब्रह्मनिष्ठ दोनों थे। श्रोत्रीय गुरु का तात्पर्य है कि वे शास्त्रीय सिद्धान्तों के यथार्थ ज्ञाता हों और ब्रह्मनिष्ठ का अर्थ है कि उसे स्वयं ब्रह्म की प्राप्ति हो गई हो। गुरुदेव जी सकल शास्त्रों के ज्ञाता तो थे ही साथ ही साथ उन्होंने अपने जीवन में योग को पूर्णतया आत्मसात कर लिया था। इसी कारण से उन्होंने लाखों शिष्यों को इस परम्परा में आरुढ़ कर उन्हें शक्ति देकर साधनारत बना दिया है। गुरुदेव ने सिद्ध गुफा को योग शक्तिपात के केन्द्र के रूप में सुविख्यात बना दिया। गुरुदेव ने बड़े—बड़े अनेक विश्व योग सम्मेलनों में अध्यक्षता कर भारतीय योग विद्या की गरिमा को सुरक्षित रखा है। उनके समय का ऐसा कौन योगी होगा जो उनके नाम से परिचित न होगा। उनका चतुर्मुखी व्यक्ति एवं कान्तियुक्त मुखमण्डल ही उनके आकर्षण का केन्द्र था। युवावस्था के समय में उनके देदीप्यमान मुख की ओर दृष्टि डालना ही कठिन हो जाता था। चन्द्रमा को भी लज्जित कर देने वाला उनका 'चन्द्रमोहन' नाम सार्थक ही था।

सद्गुरु कल्पवृक्ष होते हैं। उनके चरणों में बैठकर जो भी कामना की जाती है वह स्वतः पूर्ण हो जाया करती है गुरुदेव के चरणों का ऐसा ही प्रताप था। संसार के समस्त भोग, ऐश्वर्य एवं मुक्ति जैसी दुर्लभ वस्तु को भी सद्गुरु अपने शिष्यों को सहज ही में प्रदान कर दिया करते हैं। सद्गुरु देव का भौतिक देह यद्यपि सामान्य व्यक्तियों के लिये दृगोचर नहीं है किन्तु उनका योग सन्देश, दिव्य शक्तियों से पूर्ण उनके आश्रम में आने वाले योग जिज्ञासुओं के लिये प्रेरणा व शक्ति का प्रमुख स्रोत बना रहेगा। उनकी पावन जयन्ती श्री विजय दशमी के पावन पर्व पर उनके सभी शिष्यों तथा सिद्धयोग परिवार की ओर से कोटि—कोटि नमन !

जिज्ञासाएँ समाप्त होने पर जब न कुछ जानना है और न कुछ पूछना है, शान्त होकर बैठना ही पूर्ण समाधान है, पूर्ण विश्राम है, पूर्ण ज्ञान है। इसी अवस्था का नाम 'दर्शन' है 'आत्म ज्ञान' है। इसी प्रकार की पूर्ण बुद्धि को ऋतम्भरा कहते हैं। ईश्वर के आनन्द स्वरूप में अपनी आत्मा के मग्न करने के साधन को ही उपासना कहते हैं।

पूर्वजन्म का ज्ञान और उसका उपयोग

प्रो० आचार्य चन्द्रहास शर्मा

जन्म और मृत्यु जीवन के दो ध्रुव सत्य हैं। कोई राजा हो या रंक, धनी हो चाहे निर्धन, अथवा ज्ञानी हो चाहे मूर्ख— उसके जीवन में जन्म–मरण की घटनायें चाहे–अनचाहे अवश्य घटती हैं। जन्म और मृत्यु के मध्य भाग को जीवन कहा जाता है। जीवन में पूर्व–पूर्व संस्कार वश प्रत्येक प्राणी नाना प्रकार के क्रिया–कलाप किया करता है। उन चेष्टाओं के फलस्वरूप वृक्ष से बीज की तरह नाना प्रकार के नये–नये संस्कार बनते रहते हैं। वे सब संस्कार चित्त में इकट्ठे होते रहते हैं। अनेक जन्मों में घूमते हुए हमारे शरीर तो बदलते रहते है किन्तु चित्त नहीं बदलता। मृत्यु होने पर शरीर अग्नि में भस्मसात हो जात है किन्तु हमारा सूक्ष्मशरीर जिसमें मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रहते हैं—यह नष्ट नहीं होता। उसमें संचित स्मृति रूप संस्कार भी यथावत सुरक्षित बने रहते हैं। योग दर्शन का सिद्धान्त है 'स्मृति और संस्कारों का एक स्वरूप होने से जैसे ही हमारे अन्दर के पुण्य कर्मों के संस्कार स्मृति के रूप में जगते हैं वैसे ही पुण्य कर्म होने लगते है और पाप कर्मों की स्मृति जगने पर पाप कर्मों के संस्कार बलवान हो जाते हैं तदनुसार ही जीवन में शुभाशुभ कर्मों का भोग काल उपस्थित होता रहता है। चित्त के ऊपर अज्ञान का पर्दा पड़ा रहने के कारण साधारण प्राणी यह नहीं जान पाता कि उसके चित्त में जो स्मृति हो रही है वह किस जन्म के संस्कारों के परिणाम स्वरूप है। कई बार अपरिचित व्यक्ति के मिलने पर हृदय में ऐसी अनुभूति जगती है कि यह व्यक्ति न जाने कब से हमसे परिचित है और हमारा अपना ही है। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने अपने 'अभिज्ञान शाकुन्तलं नाटक' में नाटक के नायक दुष्यन्त के मन में कण्व के आश्रम में शकुन्तला को देखकर सहसा आकर्षण क्यों पैदा हुआ ? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए पूर्व जन्म के सौहार्द को ही कारण माना है। जिसके कारण **'रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्'। पर्युत्सुको भवति सुखिनोऽपि जन्तुः**..........।अचानक किसी सुन्दर आकृति को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर शान्त और सुखी व्यक्ति भी व्याकुल हो जाता है।

पूर्व जन्म की स्मृति और संस्कारों का सिलसिला सभी धर्म और देश के लोगों में होता है। अज्ञानता, वासना, दुराग्रह या धर्मान्धता की रूढ़िवादी मान्यताओं के कारण कुछ धर्म के लोग कयामत के दिन तक जन्म का इन्तजार करवाना ज्यादा पसन्द करते हैं। हिन्दूधर्म संस्कार प्रधान है अतः पाप, पुण्य के कर्मानुसार शुभाशुभ संस्कारों के आधार पर जन्म, आयु और भोग को स्वीकार कर कर्म को प्रधानता देते हैं। **'जो जस करिय सो तस फल चाखा'**। जो जैसा बोता है वैसा ही उसे काटना पड़ता है। इस जन्म में काटेगा या अगले जन्मों में काटेगा ? यह एक स्वतन्त्र कर्मफल मीमांसा का सिद्धान्त है। निष्काम कर्मों के अनुष्ठान तथा धारणा, ध्यान, समाधि के सतत् अभ्यास से जिनका चित्त का बन्धन (आसक्ति) शिथिल हो गया है तथा स्थूल शरीर के प्रेरक सूक्ष्म और कारण शरीर में विचरण करने का जिनका अभ्यास है—ऐसे लोग अपने चित्त को अचेतन मन तथा अपचेतन तथा पराचेतन के नाड़ी मार्गों में ले जाकर अपने पूर्व–पूर्व जन्मों को देख लेते हैं। ईश्वर कोटि के सिद्धों में यह स्थिति स्वाभाविक होती है। भगवान योगेश्वर श्री कृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय में अपने योगेश्वर्य में स्थित होकर अपने प्रिय सखा अर्जुन को कहते हैं—

''बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप'' योग की परम्परा

समझाते हुए भगवान कहते हैं कि यह योग उपदेश पहले मैंने ही विवस्वान को दिया था। विवस्वान ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु राजाओं को। काल क्रम से यह बीच में नष्ट हो गया। वही सर्वहितकारी तथा सर्वसुलभ योग आज तुझे कह रहा हूं। अर्जुन विस्मित होकर पूछने लगा यह कैसे सम्भव है कि आपने ही पूर्व पुरुषों को इस योग का उपदेश दिया ? आप तो अभी मेरे साथ हैं और पूर्व पुरुष हजारों लाखों वर्ष पूर्व हो गये ? भगवान अर्जुन के विस्मय को देखकर इसका रहस्य प्रकट करते हैं। हे अर्जुन तेरे अनन्त जन्म हो चुके हैं। और मेरे भी अनन्त जन्म व्यतीत हो चुके तू माया के वश में होकर उन सबको भूला हुआ है जबकि मैं माया का अधीश्वर होने के कारण पूर्णरूपेण प्रबुद्ध होने से अनन्त जन्मों को यथावत् जानता हूं।

पूर्वजन्म के ज्ञान से क्या लाभ ? यह प्रश्न बहुधा लोगों के मन में उठता है। इसका ज्ञान होने पर इस जन्म में घटित घटनाओं और आगामी जन्म में सम्भावित घटनाओं का कार्य–कारण सम्बन्ध जाना जा सकता है जिससे संस्कारों का शीघ्र भुगतान कर जन्म–मरण की श्रृंखला को साधना बल से नष्ट किया जा सकता है। संस्कार क्षय करने के दो तरीके हैं। स्मृति में संस्कारों को उभारकर ध्यान योग द्वारा उनका भोग कर उन्हें विच्छिन्न कर दिया जाय। संस्कार चार रूप से विद्यमान रहते हैं– प्रसुप्तावस्था में जैसे यौवनावस्था के काम संस्कार बाल्यावस्था में प्रसुप्त स्थिति में पड़े रहते हैं। विशेष अवस्था और आयु आने पर वे सजग होकर अपनी क्रियाओं से उद्विग्न बना डालते हैं। दूसरी **तनु** अर्थात् दुर्बल अवस्था है। जैसे पुलिस की उपस्थिति से चोरों के संस्कार कुछ समय दुर्बल हो जाते हैं। चाह कर भी वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाते। ऐसे ही प्राणायाम और जप, स्मरण से तमोगुणी और रजोगुणी संस्कार दुर्बल हो जाते हैं। तीसरी अवस्था **उदार** कहलाती है इसमें अनुकूल संयोग और परिस्थिति मिलने पर सोये और छिपे संस्कार अपना रंग दिखाने लगते हैं। जिस तरह वर्षा ऋतु में पृथ्वी में सोये पड़े नाना प्रकार के बीज स्वतः उग आते हैं। चौथी अवस्था **विछिन्न अवस्था** है। जैसे हवा द्वारा उठाये हुये बादल वर्षा करते–करते रह जाते हैं। और छिन्न–भिन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार योगाग्नि द्वारा बिना फल दिये ही कर्म संस्कार भुने हुए बीज की तरह या छिलका उतरे हुए धान की तरह नये संस्कार पैदा करने में अक्षम बन जाते हैं। सभी संस्कार त्रिगुणों का ही खेल है। जब तक गुणातीत स्थिति प्राप्त नहीं होती संस्कारों का खेल चलता रहता है। गुणों का गुणों में लय कर देने पर संस्कार चक्र रुक जाता है। यह कार्य ज्ञान द्वारा और ध्यान द्वारा सम्भव है। **'ज्ञानाग्नि दग्ध कर्माणः तमाहुः पण्डितं बुधाः'** तथा **'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि–भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।'** यह गीता में प्रतिपादित सिद्धान्त है। ज्ञान की अग्नि समस्त कर्म संस्कार राशि को भस्म कर निःशेष बना देती है। ज्ञान, बिना वैराग्य के सम्भव नहीं। वैराग्य बहुत कठिन है। बाह्य चिन्हों से वैरागी बनना अपेक्षाकृत आसान है किन्तु वास्तविक वैराग्य का लक्षण– **'कहिय तात सो परम विरागी। तृण सम सिद्धि तीन गुण त्यागी।'** त्रिगुणातीत अवस्था प्राप्त योगी तत्व में आत्म दृष्टि युक्त कर प्रपंचजगत से उदासीन हो जाता है। उसको करने और कुछ न करने से कोई प्रयोजन नहीं। प्रतिक्षण तत्वदृष्टि होने के कारण पूर्वजन्म के संचित संस्कार निष्क्रियावस्था में एक तरफ पड़े रहते हैं। प्रकृति का यह नियम है कि कोई वस्तु नष्ट नहीं होती। उसका रूप परिवर्तन हुआ करता है। जब ज्ञानी के पूर्व संचित संस्कार बिना चेष्टाओं के निष्क्रिय पड़े रहते हैं तो उनमें अवस्था परिणाम घटित हो जाता है। जैसे लिया हुआ कर्जा दस बीस वर्ष बाद बट्टे–खाते में चला जाता है या माफ हो जाता है उसी प्रकार कर्म संस्कार स्वतः नये कर्म बीज तैयार करने में अक्षम हो जाते हैं। जैसे रखा–रखा नया कपड़ा स्वतः जीर्ण हो जाता है वैसे ही कर्त्ता की अपेक्षा के बिना संस्कारों का भोक्ता भाव नहीं बन पाता। साधारण योगियों को अपने संस्कार ध्यान

के द्वारा प्रसंख्यान अवस्था में धर्ममेघ समाधि प्राप्त कर स्मृतिरूप में उपस्थित कर ध्यानावस्था द्वारा क्षीण करने होते हैं। स्थूल शरीर से जो संस्कार कई वर्षों में भोगने पड़ते वे सूक्ष्म और कारण शरीर के स्तर पर प्राणमय, मनोमय, आनन्दमय और विज्ञानमय कोष में पहुँचकर कुछ घण्टे, माह या क्षणभर में क्षीण हो जाते हैं। अधिकांश संस्कार स्वप्नावस्था में क्षीण हो जाते हैं। स्वप्नावस्था तमोगुण के अन्दर संस्कारों के प्रवाह की अवस्था है जिसमें भोगायतन यह शरीर और इन्द्रियाँ न होकर मन और मन के अन्दर तन्मात्रिक शक्तियाँ हैं। ध्यान में सतोगुण में यही खेल चलता है। ध्यान में भोगने से पुराने संस्कार खत्म हो जाते हैं। और नये संस्कार बन्ध न बनकर तैयार नहीं हो पाते। ध्यान के संस्कार उसी प्रकार के होते हैं, जैसे लकड़ी के ढेर को जलाने वाली अग्नि पहले जलकर लकड़ियों को जला डालती है और बाद में स्वतः भी शान्त हो जाती है। परमाराध्य श्री गुरुदेव कहा करते थे कि बहादुर वह है जो अपने संस्कार ध्यान योग द्वारा भोग कर नष्ट कर सके। ज्ञान–योग द्वारा संस्कारों को छोड़देना या बचकर निकलना कोई बहादुरी नहीं है। उन अमलात्मा योगीश्वरों की बात अलग है जो अपनी आत्मदृष्टि से जड़ को भी चेतन बनाकर संस्कार राशि को विनायरूप देकर अपनी लीला का ही परिकर बना डालते हैं।

पूर्व जन्म का ज्ञान कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न का समाधान योगदर्शन के कई सिद्धान्त करते हैं। विभूतिपाद के सोलहवें सूत्र में कहा गया है कि– **'परिणामत्रय संयमादतीतानागत ज्ञानम्।'** धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणामों को लक्ष्य में रखकर जब योगी चित्त में धारण–ध्यान–समाधिरूप संयम करता है तो उन तीनों परिणामों के साक्षात्कार से घटित घटना के क्रम का तथा उस वस्तु के भावी क्रम का तथा उसके काल का ज्ञान हो जाता है। इसी में आगे पूर्वजन्म को ज्ञात करने की प्रक्रिया का उल्लेख अठारवें सूत्र में मिलता है।

'संस्कार साक्षात्करणात् पूर्व जाति ज्ञानम्'। जब धारणा ध्यान–समाधि एक ध्येय विषयक हो जाय तो कारण–कार्य सम्बन्ध ज्ञान प्रज्ञा में उद्भासित होने लगेगा। जिससे अपने वर्तमान कार्य का पूर्व कारण और उसका भी पूर्व–पूर्व कारण जन्म और मृत्यु की रीत चल पड़ेगी। वर्तमानकालीन जन्म को पकड़कर उसकी पूर्ववर्ती पूरी श्रृंखला पूर्व संस्कारों की स्मृति के रूप में उपस्थित हो जाती है।

संस्कार दो प्रकार के होते हैं– एक पंचवृत्तियों के रूप में स्मृति रूप जो बीजरूप में क्लेशों के कारण चित्त में विद्यमान रहते हैं। जब तक अविद्या, अस्मिता, राग–द्वेष और अभिनिवेष–ये पांच क्लेश समूल नष्ट नहीं हो जाते तब तक जन्म–जन्मान्तर के संस्कार चित्त में स्मृति के बीजरूप से संचित रहते हैं। दूसरे प्रकार के संस्कार कर्मफल के कारण वासनारूप से (आसक्ति) जन्म, आयु और भोग तथा तज्जन्य सुख–दुःख के कारणभूत होते हैं। योगियो के अतिरिक्त बहुत से अनासक्त चित्त वाले सरल लोगों में भी पूर्वजन्म की स्मृति देखी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व जिला मेरठ में बरनावा स्थान पर एक साधारण से व्यक्ति कृष्णदत्त थे। वे सीधे लेटकर अपनी पूर्व जन्म की स्मृति में जाने के बाद तत्कालीन श्रृंगीऋषि और उनके शिष्य महानन्द का सत्संग, वेद मंत्रों का पाठ और अद्वितीय ज्ञान की चर्चा करने लगते थे। उनके चित्त में उन महापुरुषों का आवेश हो जाता था। उनकी इस प्रकार की घटना को मैंने प्रत्यक्ष देखा है। इसी प्रकार इस वर्ष गर्मियों में भिण्ड के वार्षिकोत्सव में एक देवी से साक्षात्कार हुआ जिसे अपने पांच जन्म याद आते रहते हैं। उसने पूर्वजन्म के सम्बन्ध से मुझे भी–नाम सुनकर ही पहचान लिया और अपने पतिदेव से आग्रह कर सत्संग में आकर चिरपरिचित की भांति मुझसे बात करने लगी। पूर्व–पूर्व जन्म के विभिन्न नाते रिश्ते, गुरु और शिष्य पुनः, पुनः विभिन्न रिश्ते नातों में पुनः–पुनः उसे मिलते रहे हैं। वर्तमान के संगी–साथियों का भी पूर्व जन्म का सम्बन्ध उसने

बताया। बात बिल्कुल यथार्थ में ठीक है उसने यह भी बताया कि एक स्थान पर उसका आसन, माला और मन्दिर अभी है। जहाँ उसके घर वाले अभी तक उसे नहीं ले गये। उन्हें डर है कि वर्तमान जीवन के सम्बन्धों में उससे गड़बड़ी आ सकती है। पर गड़बड़ी का कोई प्रश्न ही नहीं है। पूर्व जन्मों की स्मृति के क्रम का साधना द्वारा विकास कर लिया जाय तो अपने नित्य, बुद्ध, मुक्त चिदानन्द स्वरूप में स्थित होने का सूत्र हाथ लग सकता है जिससे पीढ़ी दर पीढ़ी जन्म–मरण और क्लेशों की परम्परा इसी जन्म में क्षीण हो सकती है।

योग दर्शन में पूर्वजन्म के सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भाष्कर भगवान व्यास और विज्ञान भिक्षु ने— योगीश्वर जैगीषव्य का उदाहरण दिया है। वे संस्कारों का इतनी दूर तक साक्षात्कार कर चुके थे कि उन्हें दस महाकल्पों तक जो–जो जन्म हुए और जो–जो योनि प्राप्त हुई— उनका विवेकज ज्ञान था। उन जन्मों का साक्षात्कार कर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाल लिया था कि चाहे इन्द्रासन मिला चाहें चींटी का शरीर—प्रत्येक जन्म में क्लेश, कष्ट और दुःखों के सिवाय कुछ भी हाथ नहीं आया। अतः दुःखों से मुक्त होने का पक्का उपाय किये बिना चैन से नहीं बैठना है। कैवल्यप्राप्तयोगी शाश्वत आनन्द और शान्ति का लाभ प्राप्त कर पाता है। अन्य सभी जन्म–मरण के चक्कर में घूमते रहते है।

दूसरे योगिराज भगवान आवट्य के सम्बन्ध में भी एक उपाख्यान मिलता है। योगिराज आवट्य योगबल से दिव्य विग्रह धारण कर स्वतन्त्र और स्वच्छन्द वृत्ति से सर्वत्र विचरण करते थे। एक बार योगिराज जैगीषव्य से उनका सत्संग हो गया। जैगीषव्य से उन्होंने पूछा— योगिराज ! दस महाकल्पों में देव, मनुष्य, अण्डज, पिण्डज, तिर्यक् आदि नाना योनियों में जन्म लेकर नाना प्रकार के स्वर्ग–नरक तथा गर्भ यातना जन्म–मरण दुःखों का भोग करते हुए आपको सर्वाधिक क्या उपलब्ध हुआ ? संसार में सुख की मात्रा अधिक है या दुःख की ? इस प्रश्न के उत्तर में जैगीषव्य ने बतलाया कि सारे विषय सुख परिणाम में दुःखरूप होने से संसार को मैं दुःख रूप ही मानता हूं।

पूर्वजन्म की स्मृति का उदय ऐसे लोगों को भी होता है जो अपना जीवन शुद्ध, पवित्र और बिना लाग–लपेट के यापन करते हैं। योग दर्शन का सिद्धान्त है—'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।। २/३९ अपरिग्रह की स्थिरता से जन्म के कारणों का ज्ञान होता है। अपरिग्रह का तात्पर्य पदार्थों में आसक्ति का अभाव। अपने शरीर की आवश्यकता से अधिक साधनों का संग्रह न करना। क्योंकि उससे चित्त में लोभ और भय प्रविष्ट हो जाते हैं। अपने शरीर में अहंता और वस्तुओं में ममता— ये क्लेशों के कारण परिग्रह का ही स्वरूप है। परिग्रह में 'ग्रह शब्द महत्वपूर्ण है। यही शब्द 'संग्रह', 'अनुग्रह' 'आग्रह', 'निग्रह', में भी है। ग्रह का अर्थ है अपनी ओर समेटना, पकड़ना, आकर्षित कर लेना। परिग्रह का अर्थ है चारों ओर से समेट कर अपना ममत्व स्थापित करना। इसका नकारात्मक पक्ष अपरिग्रह है। ईश्वरेच्छा से प्राप्त में संतोष कर अप्राप्य की लालसा न करना ही अपरिग्रह का तात्विक अर्थ है। वस्तु की आसक्ति ही चित्त को मलिन कर देती है। जब देहाध्याय और वस्तु की आसक्ति नहीं होती तो चित्त शुद्ध और निर्मल होकर यथार्थ ज्ञान की सामर्थ्य विकसित होती है। जिससे भूत, भविष्य और वर्तमान जन्म का ज्ञान हो जाता है। पूर्व जन्म में कहाँ कैसे और कब तक था तथा आगे का जन्म कैसा होगा— यह ज्ञान भी हो जाता है। मृत्युकाल में भावी जन्म के संस्कार इकट्ठे होकर प्रबलता से अपने लक्षण प्रकट कर दिया करते है। उससे प्राणी के भावी जन्म का अनुमान लगाया जा सकता है।

मनुष्य के शुभाशुभ संस्कार **संस्काराशय** में संचित होते रहते हैं। मृत्यु के समय कर्मों के पुण्यपाप वेग के अनुसार भावीजन्म के संस्कार इकट्ठे होने लगते हैं। कर्म और गुणों के अनुसार प्रकृति में वैसे–वैसे गर्भाशय निर्माण करने की क्षमता है। चित्त की संचित प्रबल वासनाओं के वेग का आकर्षण उसके अनुरूप गुण वाले गर्भाशय कर लिया करते हैं। जैसे दूसरों को दुःख देने वाला दुःखदायी योनियों के गर्भाशय में जाकर उन संस्कारों के भो॰ के लिए एक जन्म ले लेता है। संस्काराशय सूक्ष्म शरीर का अंग है सूक्ष्म शरीर एक जन्म से दूसरे जन्मों में भिन्न–भिन्न योनियों और शरीरों में रज–वीर्य के माध्यम से प्रवेश करता रहता है। तदनुसार उन–उन शरीरों के अनुरूप संस्कार भी एक शरीर से दूसरे शरीर में चित्त के साथ चले जाते है। इन्हीं संस्कारों के साथ तदनुकूल वासना विकास पाती हैं। योगदर्शन का सिद्धान्त है– **'जातिदेशकाल व्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति संस्कारयोरेकरूपत्वात्।'** ४/९ अर्थात् चित्त के संस्कारों में न देश रुकावट डाल पाता है न जाति और न काल। जहाँ–जहाँ स्थूल शरीर जाता है, उसके साथ वहाँ–वहाँ सूक्ष्म शरीर भी रहता है और उसमें स्थित संस्कारों की स्मृति और वासना भी विद्यमान रहा करती है। यदि कोई भारत छोड़कर लंदन चला जाय तो भी चित्त के संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ते। उसके साथ चित्त की वासना रहती है। इसी प्रकार किसी भी योनि में जीव जाय वहाँ चित्त की वासना भी साथ ही चलती चली जाती है। स्मृति वृत्ति के पीछे वासना उठ खड़ी होती है। इसी प्रकार अनेक जन्म व्यतीत हो जाने पर भी वासनायें संस्काररूप से चित्त में विद्यमान रहती हैं। अनुकूल परिस्थिति मिलने पर वैसे–वैसे संस्कार प्रबुद्ध होकर अपना कार्य करने लगते हैं।

चित्त में संस्कारों का यह सिलसिला अनादि काल से ऐसे ही चला आ रहा है। प्रश्न उठता है कि क्या यह सिलसिला ऐसे ही चलने दिया जाय ? योगदर्शन का सिद्धान्त है कि वासनाक्षय और मनोनाश एक साथ कर दिया जाय तो यह सिलसिला अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं रहेगा। योग वाशिष्ठ में वशिष्ठ मुनिने भगवान राम को यही शिक्षा दी है। पातंजल योगदर्शन में भी संस्कार और वासना के क्षय के उपायों की चर्चा के प्रसंग में कहा गया है।–

'हेतु फलाश्रयालम्बनैः संग्रहीतत्वादेषाभावे तदभावः।' ४/११

अर्थात् संस्कार और वासनाओं के कारण उनके परिणाम और उसके रहने के स्थान तथा उनके सहायक (आलम्बन) को जानकर उनका अभाव कर देने से संस्कार और वासना का क्षय हो जायेगा।

कर्तापने के अभिमान से युक्त होने पर कर्म करने से ही संस्कार वासना का रूप धारण करते हैं। यदि कर्मफल ईश्वर को सौंपकर साक्षी और दृष्टाभाव से निष्कामतायुक्त कर्म करने की कला हाथ लग जाय तो संस्कार चक्र गतिशील नहीं हो पायेगा। क्योंकि शुभ अशुभ कर्म ही कर्माशय तैयार करते हैं। कर्म के मूल में **अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष** और **अभिनिवेश**– ये पाँच क्लेश हैं। जब तक क्लेश रहेंगे, उनके अनुकूल क्लिष्ट और अक्लिष्ट कर्म होते रहेंगे। अतः चित्त के संचित संस्कारों के नाश करने वाले कर्मों द्वारा वासना का अभाव स्वतः हो जायेगा। वासना का फल ही जाति, आयु और भोग हुआ करता है जब साधक इन भोगों के प्रति उदासीन भाव रखकर चित्त को समत्व की स्थिति में रख कर फल की आसक्ति का भाव त्याग दे तो चित्त नये कर्मों के (क्रियमाण) संस्कारों के प्रभाव से सुरक्षित हो जायगा। और संस्कारों के संचय होने का डर भी नहीं होगा। इसीलिये गीता में कर्म करने का उपाय बताया गया है– **'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सगं त्यक्त्वा आत्मशुद्धये'**। योगमय जीवन जीने की कला में दक्ष लोग कर्म तो अवश्य करते हैं; किन्तु फलासक्ति छोड़कर आत्मशुद्धि की भावना से कर्म करते हैं। जिससे भावी जन्म की वासना इसी जन्म में समाप्त हो जाती है।

संस्कारों का आश्रय स्थल चित्त है। चित्त में तमोगुण, रजोगुण जितनी मात्रा में होंगे उतना ही चित्त उद्विग्न, चंचल और मलिन रहेगा सतोगुण का जितना–जितना विकास होगा संस्कार चक्र क्षीण होता जायगा। संस्कारों का आश्रय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विषय भोग हैं। अग्नि में घृत डालने पर जैसे अग्नि की ज्वाला प्रबल होती है उसी प्रकार विषय भोगों में आसक्ति से संस्कार चक्र प्रबल होता है। इन्द्रिय संयम, सन्तोष और जप ध्यान से विषय भोगों के प्रति आकर्षण कम होता है। उसी मात्रा में संस्कार चक्र भी निर्बल होता जाता है इस प्रकार संयमी और तपस्वी योगनिष्ठ जीवन यापन करने से संस्कारों के हेतु फल, आलम्बन और आश्रय का अभाव होने से संस्कार संचय का भी अभाव हो जाता है। यदि संस्कारों को उनके फल देने से पूर्व ही बीज अवस्था में ही ईश्वर और श्री सद्गुरुदेव की भक्ति, ज्ञान योग तथा जप और ध्यान योग से उसी प्रकार दुर्बल कर दिया जाय जैसे चने भून दिये जाते हैं तो उनकी उगने की सामर्थ्य स्वतः नष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार योग द्वारा प्रसुप्त वासना को ही तनु अवस्था में ला देना श्रेष्ठ उपाय है। जिससे वह उदार अवस्था अर्थात् फल भोग देने में समर्थ ही न रहे। यही उसका विच्छिन्न अर्थात् नष्ट हो जाना है, शक्तिपात के द्वारा युगों–युगों से सोयी हुई जीव की शक्ति (कुण्डलिनी) सद्गुरु की सदिच्छा से जागृत होकर संस्कारों को तनु बनाने का कार्य खेल–खेल में करती रहती है। क्योंकि उस अवस्था में जो भी क्रियाएं होती है वे अपने प्रयास से कर्त्तापन के अहंकार से रहित स्थिति से भगवती कुण्डलिनी की कृपा से होती है। चक्रों का बेधन करती हुई यह भगवती शक्ति प्रतिप्रसव क्रम से जड़–चेतन की गांठ को खोलकर आत्मा में स्थित हो जाती है। जहां कर्म और तज्जन्य संस्कारों का खेल समाप्त हो जाता है। गुणों के परिणाम पैदा करने की क्रिया बन्द हो जाती है। शक्तिपात की क्रियाओं द्वारा संस्कार चक्र शीघ्र क्षीण होता जाता है। ज्यों–ज्यों अन्तर्मुखता का विकास होता जाता है। त्यों–त्यों जन्म और मृत्यु तथा आयु और भोग के कारण अविद्या के परिवार का नाश होता जाता है। शरीर, इन्द्रियां और मन तथा बुद्धि शुद्ध होते–होते आत्मदर्शन की ज्यों–ज्यों योग्यता विकसित होती जाती है, त्यों–त्यों, संस्कार क्षीण होने लगते हैं। इसलिये प्रत्येक प्राणी के लिये योग साधना अत्यन्त आवश्यक है। अन्य उपायों से अनेक जन्म व्यतीत होने पर नाना प्रकार के क्लेश पीछा करते रहेंगे। पूर्व जन्म के संस्कार हमारे अनेक रोगों, प्रगति में रुकावटों तथा हमारी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों के कारण है। इसे ठीक से समझने के लिए यहां एक अमेरिका के विचित्र पुरुष का जीवन वृत उपयोगी होगा।

एडगर साइस नामका एक अत्यन्त सरल तथा साधारण शिक्षित व्यक्ति जब ध्यानस्थ होकर चेतन से मस्तिष्क के अचेतन स्तर के सम्पर्क में आता था तो उसमें विलक्षण शक्तियां जागृत हो जाती थीं। उसे न केवल अपने अपितु अन्य लोगों के पूर्व जन्मों की सारी घटनायें प्रत्यक्ष होने लगती थीं। जिनके आधार पर कर्म सिद्धान्तानुसार वह असाध्य रोगियों की सफल चिकित्सा विधि बताता था। उस अवस्था में वह जो कुछ कहता था उसे नोट कर लिया गया है। करीब ढाई हजार व्यक्तियों की इस प्रकार की घटनाओं और भविष्य वाणियों का संकलन अमेरिका के वर्जिनिया की Association for Research and Enlightenment नामक संस्था में संग्रहीत है। उसके संदेशों के आधार पर अनेकों पुस्तकें साधारण व्यक्तियों, चिकित्सकों अनुसंधानकर्ताओं तथा धर्म और दर्शन के विद्वानों के लिए लिखी जा चुकी है। जिनमें से कुछ इस प्रकार है– डॉ. गिने ग्रिमिनारा लिखित–Many Mansions. डॉ. हरमन हरजैलब्रो द्वारा लिखित Edgar Cayce on Religion And Psychic Experience मेरी एलिन कार्टर लिखित 'Edgar Cayce on

Prophecy' तथा एनी रेड द्वारा लिखित 'Edgar Cayce on Jesus And His Church' आदि प्रमुख हैं।

एडगर साइस का जन्म अशिक्षित माता–पिता के यहाँ सन् १८७७ ई. में होपस्किन विले के निकट अमेरिका के केनटकी नगर में हुआ। नवीं कक्षा तक ही वह शिक्षा प्राप्त कर सका। पहले उसकी इच्छा उपदेशक बनने की थी किन्तु परिस्थितिवश उसे दूसरे नगर में जाकर पुस्तक भण्डार के लिपिक का कार्य करना पड़ा। बाद में बीमा कम्पनी का एजेण्ट बन गया। जब वह इक्कीस वर्ष का था तब उसे ऐसा रोग हुआ कि उसकी कण्ठ की आवाज चली गयी। असाध्य स्थिति में कुछ करने से भी लाचार होकर एक वर्ष तक वह घर पर रहा। जीविका निर्वाह के लिए उसने फोटो ग्राफी का कार्य प्रारम्भ किया। तभी एक सम्मोहन विद्या में निपुण हार्ट नामक व्यक्ति से उसकी मुलाकात हुई। हार्ट ने उसे सम्मोहित कर अपने आदेशों से उसे ठीक कर दिया। किन्तु चेतन स्थिति में आने पर पुनः वह पूर्ववत् हो गया। फिर एक अन्य उसी प्रकार के व्यक्ति लाइने ने अचेतन अवस्था में संबोधन विधि द्वारा उसके स्वर यंत्र के पक्षाघात का साइस को स्वयं ज्ञान कराया और वह इसी विधि से बिल्कुल ठीक हो गया। सन् १९०१ ई. को साइस रोगों का निदान और उसकी चिकित्सा करने लगा। एक विद्यालय के अधीक्षक की बच्ची तीन वर्षों से बीमार थी। जब वह दो वर्ष की थी तभी उसे दौरा पड़ा और उसके मस्तिष्क ने पूरी तरह काम करना बन्द कर दिया। उसे लगातार दौरे पड़ने लगे और डाक्टरों ने जवाब दे दिया। एडगर को जब यह ज्ञात हुआ तो वह बिना शरीर रचना विज्ञान तथा चिकित्सा शास्त्र के ज्ञान के उसकी सहायता के लिए तैयार हो गया। उसने अपनी विधि से ज्ञात किया कि बच्ची उस दौरे से पहले गाड़ी से नीचे गिर गयी थी। जिससे उसके मस्तिष्क में कीटाणुओं का संक्रमण हो गया था। जिसकी चिकित्सा अस्थिरोग विशेषज्ञ से कराने पर बच्ची बिल्कुल ठीक हो गयी। कुछ ऐसे भी मरीजों को उसने ठीक किया जो हजारों मील दूर थे। केवल उनके नाम और पते के आधार पर वह अचेतन मन की स्थिति में वहाँ पहुँच कर उसके पूर्वजन्मों में भी पहुँचकर सब कुछ ज्ञात कर लेता था। कुछ रोगियों के लिए सामूहिक प्रार्थनायें भी कराया करता। उसे अपने पिछले जन्मों का भी अनुभव होता था। वह कई शताब्दी पूर्व मिस्र में पादरी था। उस समय उसमें आध्यात्मिक शक्तियाँ थीं। किन्तु वासना युक्त होने से वे शक्तियाँ लुप्त हो गयीं। फिर वह परशिया में एक चिकित्सक था। वह एक रेगिस्तानी युद्ध में घायल होकर भूखा प्यासा वहीं मर गया। तीन दिन व रात घायल अवस्था में वह तड़पता रहा और अपनी चेतना को अपने शरीर से बाहर निकालने का अभ्यास करता रहा। अन्त में इसमें वह सफल हो गया। वर्तमान जीवन में उसको जो अवस्था प्राप्त हुई वह उसी पूर्व अवस्था के अभ्यास का परिणाम था। वर्तमान जीवन उसे अपनी पूर्वजन्म की वासना को परिमार्जित करने के लिए प्रायश्चित स्वरूप निस्पृहभाव से दीन–दुःखियों की सेवा के लिए ही मिला।

एक व्यक्ति को एडगर ने ध्यानस्थ होकर बताया कि वह पिछले चार जन्मों से वैज्ञानिक अनुसंधान करता आ रहा है। इसके परिणाम स्वरूप वह घोर भौतिकतावादी और स्वार्थी हो गया है। इसी प्रकार उसके कथनों के निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि कारखानों में पहली पाली में काम करने वालों की जैसे एक साथ छुट्टी होती है और दूसरी पाली के लोग एक साथ आते हैं और फिर अगले दिन पहली पाली वाले सब एक साथ इकट्ठे होकर काम करते हैं। उसी प्रकार पूर्वजन्मों की आत्मायें अपना चक्र पूरा कर फिर एक साथ अपने–अपने संस्कारों का भुगतान करने के लिए एक स्थान पर इकट्ठी हो जाया करती हैं।

जब कोई एडगर से उसकी सूचनाओं के आधार के बारे में पूछता था तो वह उत्तर देता कि प्रत्येक व्यक्ति के अचेतन मन के नीचे पूर्वजन्म की स्मृतियों का सुरक्षित भण्डार होता है। एडगर की पराचेतना उन स्मृतियों से सम्पर्क कर सकने में समर्थ थी। दूसरा आधार चिदाकाश और महाकाश में अंकित घटनाओं को सूक्ष्म शरीर के चक्रों के अन्दर देखकर एडगर पूर्वजन्मों का हाल जान सकता था। इस महाकाश पटल पर विश्व की समस्त घटनाओं, ध्वनियों, गतिविधियों, विचारों तथा भावनाओं का अकन होता है। पराचेतना में पहुँचकर उसमें व्याप्त चिदाकाश के द्वारा आकाश पटल पर अंकित घटनाओं को पढ़ा जा सकता है। आकाश विश्व का एक विशाल केमरा है जो सभी के चित्रों को उसी तरह सुरक्षित रखता है जैसे आजकल महात्मा गाँधी की आवाज और उनके जीवन की घटनाऐं वीडियो टेप में सुरक्षित रखी हुई हैं। यंत्र की सहायता से उसकी ध्वनि और प्रकाश को चित्रमय रूप से देख लिया जाता है। इसमें समय और दूरी बाधक नहीं बन पाती।

एक गोरा किसान काले नीग्रो को स्वभाव से ही घृणा करता था। एडगर ने उसका पूर्वजन्म देखकर उस घृणा का कारण तीन जन्म पहले पाया। जब वह एक सैनिक था उसे कुछ काले लोगों ने बन्दी बना लिया और पीट--पीट कर मार डाला। उस संस्कार की प्रतिक्रिया उसके वर्तमान जीवन में उजागर इस रूप में हुई कि उसने गोरे रंग के लोगों के प्रभुत्व की एक संस्था बनायी और नीग्रो लोगों का आजीवन जी जान से विरोध करता रहा। इसी प्रकार कॉलेज का एक प्रोफेसर जन्मान्ध था। उसने एडगर से सम्पर्क किया। उसकी दृष्टि का उपचार बताकर एडगर ने उसे ठीक कर दिया। उसके जन्मान्ध होने का कारण उसके पूर्व जन्म के कर्मों का परिणाम था। पूर्व जन्म में वह फारस में जंगली जाति के कबीले में था। सरदार के आदेश से गर्म सलाखों द्वारा शत्रु लोगों को अन्धाबना देना उसका कार्य था। वह इस कार्य को बड़े चाव से करता था। और वैसा कर प्रसन्न होता था। उसी के दण्ड स्वरूप उसे जन्मान्धता प्राप्त हुई।

एक चालीस वर्षीय महिला को छींकें आती रहती थीं। वह जब भी रोटी और दूसरे अन्न ग्रहण कर जूतों के चमड़े और प्लास्टिक को देखती उसकी बायीं ओर दर्द प्रारम्भ हो जाता। एडगर ने इसका कारण उसके पूर्वजन्म में खोज निकाला। पूर्व जन्म में वह एक कैमिस्ट थी और अनेक रासायनिक तत्व मिलाकर दूसरों को श्वासकष्ट पहुँचाया करती थी। एक व्यक्ति का हाजमा खराब रहता था। दवायें उस पर कारगर नहीं होती थीं। एडगर ने उसके कई जन्मों पहले के संस्कारों में देखा कि वह एक राजा का चिकित्सक था (लुई तेरहवें), उस समय वह लालच में जरूरत से ज्यादा दूसरों का हिस्सा भी खा जाता था। इस जन्म में उस कर्म को सन्तुलित करने के लिए प्रकृति ने उसकी भूख ही कम कर दी। एक व्यक्ति को रक्ताल्पकता थी। डाक्टरों की दवा निष्फल सिद्ध होने पर एडगर से सम्पर्क किया। एडगर ने उसके पूर्वजन्म के संस्कारों को देखकर बताया कि वह पीरू में जन्मा था। पूरे शहर पर कब्जा करने के लिए उसने बहुत रक्त पात किया था। जिनके परिणाम स्वरूप उसको इस जन्म में खून की कमी की बीमारी भोगनी पड़ रही थी। इसी प्रकार पूर्व जन्म में दूसरों का मजाक उड़ाने वाली एक महिला पक्षाघात तथा मिर्गी रोग का कारण यौन क्रिया की अधिकता तथा मानसिक शक्तियों का दुरुपयोग आदि पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर ज्ञात हुए। अतः पूर्वजन्म को ज्ञात कर हमें अपना वर्तमान जीवन ठीक करना चाहिये। हम प्रायश्चित देवपूजा, जप द्वारा बहुत से कष्टों से मुक्त हो सकते हैं।

* * *

भक्तियोग के द्वारा परमात्मा का मिलन सम्भव

डा. स्वामी केशवाचार्य,

योग योगेश्वर लीला पुरुषोत्तम भगवान श्री कृष्ण ने अपनी विचार धारा को स्पष्ट करने के लिए अर्जुन को विविध योगों का सन्देश सुनाया, और जब अर्जुन नाना प्रकार के संदेशों को सुन चुका, कभी कर्मयोग सुना, कभी भक्ति योग सुना, कभी ज्ञान योग सुना तो अर्जुन ने कहा प्रभो ! यह मिश्रित वाक्य हमें आप क्यों सुना रहे हैं। जिससे हमारा कल्याण हो ऐसा कुछ विशेष योग हमें बताइये। तो भगवान ने कहा अर्जुन ! यदि कोई व्यक्ति गृहस्थाश्रम में रहता है, और गृहस्थाश्रम में रहकर के अपने को भक्त मानना चाहता है तो उसे भक्ति योग का आश्रय लेना चाहिये। जो–

"ना विरक्तो नाऽतिसक्तो भक्तियोगोसिसिध्यतः॥"

जो न तो अत्यन्त विरक्त है, न अत्यन्त आसक्त है भक्ति योग उसके लिए ही सुन्दर है। इसलिए भक्तियोग की चर्चा करते हुए भगवान बोले–

अर्जुन! जिस योग से मैं जल्दी प्रसन्न हो जाता हूं, उस योग की बात हम तुम्हें बताना चाहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि भक्त किसे कहते हैं। तो भक्त वह है जो कभी विभक्त न हो। योगी कौन ? योगी वह है जो कभी वियोगी न हो। यदि हम पदार्थ के संयोगी बन जाते हैं तो निश्चित समझना चाहिये कि हम भगवान के वियोगी बन गये। यदि हम वस्तु के भक्त बन गये, व्यक्ति के भक्त बन गये, क्रिया के भक्त बन गये, तो समझना चाहिये कि अभी हम संसार के पदार्थों के भक्त हैं; परमात्मा के नहीं। इसलिए भक्त का मतलब वही है जो–

"सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व, नैवं पाप मवाप्स्यसि॥" २–३८॥

जो सुख–दुःख, हानि–लाभ, जय–पराजय इन सबमें सम रहता है, वही वास्तव में, भगवान कहते हैं, मेरा भक्त है। अब प्रश्न यहाँ यह है कि आधुनिक विचारधारा वाले कुछ लोग यह कर सकते हैं कि यह बात कैसे समझी जाय ? सुख दुःखे समे कृत्वा और बात भी बड़ी आवश्यक है। श्री गीता जी में भगवान तो बोले और हम लोग पढ़ते भी हैं किन्तु अनुकूल परिस्थिति में प्रसन्नता का अनुभव किया जाता है, और प्रतिकूल परिस्थिति में दुःख का अनुभव किया जाता है, तो कैसे यह संगति बैठे– **'सुखदुःखे समे कृत्वा'** उत्तर सहज है। मनुष्य के अन्दर सब कुछ है। शरीर है, आत्मा है, और अन्तःकरण है। इस अन्तःकरण में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये चारों साथ हैं। इसलिए इसे अन्तःकरण चतुष्टय कहा जाता है। शरीर जड़ है। जड़ शरीर में विकारों के अनुभव करने की शक्ति ही नहीं, और चैतन्य आत्मा में विकार होता ही नहीं फिर विकार किसमें होता है। यह जो बीच का अन्तःकरण है, इस अन्तःकरण का सम्बन्ध जब चैतन्य आत्मा से हो जाता है तो

इसमें अर्थात् शरीर में हरकत आने लगती है। लेकिन हरकत को व्यक्त कैसे किया जाय ? बस जब इन्द्रियों का सम्बन्ध अन्तःकरण के साथ हो जाता है तो कहा जाता है कि मेरे सिर में दर्द हो रहा है, मुझे भूख लगी है, मेरे पैरों में चोट है इत्यादि। अब मेरे पैरों में चोट है, मेरे पैर में दर्द हो रहा है, मुझे भूख लगी है इसमें तीनों का सम्बन्ध है। शरीर का भी सम्बन्ध है, अन्तःकरण का भी सम्बन्ध है और चैतन्य आत्मा का भी सम्बन्ध है। यदि चैतन्य आत्मा का सम्बन्ध न होता तो श्मशान घाट के मुर्दे में भी बोलने की क्षमता होती। और जब चैतन्य आत्मा का सम्बन्ध न होता तो अन्तःकरण का भी सम्बन्ध न होता। इसलिए मानना पड़ेगा कि इन तीनों का सम्बन्ध जब एक साथ होता है तो शरीर में भाव होता है कि मेरे सिर में दर्द है। अब मेरे सिर में दर्द है यह दर्द की अनुभूति हो रही है अन्तःकरण को, लेकिन अन्तःकरण जब चैतन्य आत्मा से सम्बन्धित है तो उस दुःख का अनुभव हो रहा है और जब शरीर न होता तो दर्द किसमें होता। इसलिए जड़ शरीर, चैतन्य आत्मा और अन्तःकरण चतुष्टय इन तीनों का सम्बन्ध जब एक से होता है, तब हमें सुख–दुःख का भान होता है। कैसे–श्री भरतलाल जी पैदल चल रहे हैं। चित्रकूट दर्शन करने के लिए पूरे समुदाय के साथ जा रहे हैं। पैदल चलते–चलते श्री भरतलाल जी के पैरों में छाले पड़ गये। कितने बड़े छाले पड़ गये हैं। श्री गोस्वामी तुलसी दास जी लिखते हैं कि–

"झलका झलकत पायन्ह कैसे।
पकज कोस ओसकन्ह जैसे"॥

श्री भरतलाल जी के पैरों में छाले पड़े हैं। यहाँ शंका होती है कि श्री भरतलाल जी पैदल चल रहे थे उन छालों का दर्शन श्री गोस्वामी जी ने कैसे किया। श्री गोस्वामी जी भावाकाश में मानस लिख रहे थे। उस भावाकाश में श्री भरत जी के हृदय का भाव उन्होंने जान लिया। और भरत सोच रहे हैं कि भगवान राम पैदल गये हैं तो मुझे कैसे जाना चाहिये। श्री गोस्वामी जी लिखते हैं कि–

"सिर भर जाऊँ उचित अस मोरा।
सब ते सेवक धरम कठोरा"॥

श्री भरतजी के भावाकाश को भी गोस्वामी जी समझ गये कि श्री भरत जी की स्थिति यह है कि भगवान को पैदल चलते देख कर श्री भरत जी सोचे कि हम सिर के बल चलें तो प्रभु की समता नहीं हो पाएगी। बस इन्हीं भावाकाश को देखकर ही गोस्वामी जी ने देख लिया कि छालों का क्या रूप बना हुआ है।

"झलका झलकत पायन्ह कैसे।
पंकज कोस ओसकन्ह जैसे"॥

जब इतने बड़े–बड़े छाले पड़े हैं और पैदल चलने पर छालों का दुःख क्यों नहीं हो रहा है तो इसका उत्तर यही है कि जैसे– डाक्टर लोग रोगी को (क्लोरोफार्म) सुंघा कर आपरेशन कर देते हैं। मन की गति को संदिग्ध कर देते हैं फिर रोगी का हाथ काट देते हैं पैर काट देते है रोगी को थोड़ा भी दुःख का भान नहीं होता है। किन्तु जब वही रोगी मुर्छा से जगता है तो देखता है अरे मेरा हाथ किसने काट लिया। मेरा पैर किसने काट लिया। यह जान ही नहीं पाता। जैसे–डाक्टर सुई लगाकर रोगी के मन की गति रोक देते हैं फिर उसके

हाथ–पैर का आपरेशन कर देते है ऐसे ही भक्त अपने मन को भगवान में लगा देता है तो उसे सुख–दुःख का भान नहीं रहता है। क्योंकि मन ही सुख–दुःख का अनुभव करता है। श्री भरतलाल जी का मन है कहाँ ? श्री गोस्वामी जी लिखते है कि– **"मन तो जहँ रघुपति वैदेही"**। जब मन यहाँ है ही नहीं तो सुख का अनुभव कौन करे ? जैसे भरत का मन भगवान में लगा हुआ है। पैरों के छालों के दुःख का उन्हें आभास नहीं होता है वैसे ही भक्त अपनी वृत्ति को अन्तर्मुखी बना लेता है, भगवन्मय बना लेता है तब उसे सुख–दुःख का भान नहीं होता। इसलिए गीता में भगवान ने कहा–**सुख दुःखे समे कृत्वा** अर्थात् सुख–दुःख में जिनकी वृत्ति ब्रह्म का चिन्तन करती रहती है प्रभु का चिन्तन, गुरु का चिन्तन करती रहती है। यदि एक वृत्ति प्रभु के चिन्तन में लगी हो और शरीर से क्रिया होती रहती है। तो शरीर की क्रिया में आसक्ति नहीं होती है। आसक्ति तभी होती है जब इन्द्रियों के साथ मन का सम्बन्ध होता है। इन्द्रियाँ देखें कोई खतरा नहीं। आँख देखे कोई खतरा नहीं। लेकिन आँख के साथ जब मन का सम्बन्ध होता है तो मन सोचता है, वाह यह रूप कितना सुन्दर है, अब जहाँ सोचा यह रूप कितना सुन्दर है तब मन को इच्छा होती है जरा फिर देख लूं। फिर देख लूं। बार–बार किसी वस्तु को देखना बस यही रूप की आसक्ति है। संसार के मनुष्य बहुत से चले जा रहे है। सड़क पर बहुत से लोग घूम रहे है। साइकिलों से जा रहे हैं। आप भी चले जा रहे है। लेकिन थोड़ी दूर आगे चले आप का साला साइकिल से चलता हुआ दिखाई पड़ा। बहुत से लोग जा रहे थे साइकिल से आपकी साइकिल कहीं नहीं रुकी लेकिन साइकिल चलते हुए ध्यान से देखा कि मेरा साला आ रहा है, आपने साइकिल धीमी की तो उसने भी साइकिल धीमी की कि मेरा बहनोई आ रहा है। अब विचार किया जाय कि साले बहनोई का सम्बन्ध आँखों से हुआ है या पैरों से या कान से हुआ है। नहीं मन की वृत्ति से हुआ है। बहुत से लोग जा रहे थे सड़क पर लेकिन कहीं नहीं रुके। क्योंकि उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। दोनों मिलने के बाद जब अपने–अपने दिशा में चले तो थोड़ा और आगे बढ़े तो आपने देखा कोई दुश्मन सामने दिखाई पड़ रहा है इतने में विचार में आया कि अरे हम दुश्मन के सामने कैसे पड़ें। उसने भी सोचा कि इनकी शक्ल न देखें तो उसने भी साइकिल मोड़ ली। अब विचार किया जाय कि यह जो साइकिल मुड़ी ये हाथ से मुड़ी या पैरों से मुड़ी। नहीं–हाथ–पैरों ने काम बाद में किया। पहले मन की वृत्ति ने वहाँ द्वेष का अनुभव किया। और जब द्वेष का अनुभव किया तब आपकी साइकिल मुड़ी इसलिए मन जहाँ इन विषयों में चिपक जाता है। वहीं आसक्ति का अनुभव करता है। और जब आसक्ति हो जाती है। तो केवल संसार का ही भाव होता है। भगवान का नहीं। किन्तु फिर भी विशेष स्मरण की बात यह है कि यदि आसक्ति आ सकती है तो भक्ति के द्वारा जा भी सकती है। इसलिए भक्ति योग में भगवान ने कहा कि तुम्हारे मन की वृत्ति यदि संसार में रहती है और संसार में रहते–रहते कार्य करती है तो तुम संसार में रहते हुए आसक्ति का ही अनुभव करोगे। जैसे–व्यापारी एक क्षण के लिए मुनाफे को नहीं भूलता। जैसे–कन्जूस एक क्षण के लिए धन को नहीं भूलता। जैसे–पतिव्रता स्त्री एक क्षण के लिए अपने भगवान को नहीं भूलती। इसलिए भक्ति पूर्वक भक्ति योग के द्वारा श्री सद्गुरुदेव जी से ज्ञान योग प्राप्त कर कर्मयोग करते हुए परम प्रभु परमात्मा में एकनिष्ठ हो जाना चाहिये। परमात्मा सर्वव्यापी है, कण–कण में व्याप्त है, परमात्मा से कोई भी स्थल

विरक्त नहीं है।

''सर्व खल्विद ब्रह्म नेह नानास्तिकिंचन''

परन्तु परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करना हो तो श्री सद्गुरु देव जी की कृपा से भक्ति योग प्राप्त कर भक्ति योग के द्वारा उस विराट परम तक पहुँचा जा सकता है। भक्ति तो की जाती है। भक्ति योग को समझते हुए भक्ति करके विराट तक पहुँचा जा सकता है। भक्ति का एक अर्थ व्याकरण के आधार पर जो व्याकरण शास्त्र में वर्णित है। **भज सेवायाम्** धातु से भक्ति शब्द का निर्माण हुआ। जो सेवा अर्थ में है। सेवा अर्थात् भक्ति। भक्ति की जाती है। श्री गोस्वामी तुलसी दास जी के शब्दों में—

''भक्ति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृत मूल अविद्या नासा''।।

और भक्ति स्वतन्त्र भी है।

''भक्ति स्वतन्त्र सकल सुख खानी''। सकल सुख की खान है। भक्ति योग के नौ प्रकार हैं। जो नौ प्रकार से किये जाते हैं। श्री मद्भागवत महापुराण में भी नौ प्रकार की ही भक्ति योग का विधान बताया गया है। जो इस प्रकार है—

''श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्य सख्य मात्मनिवेदनम्''।।

१. श्रवण २. कीर्तन ३. स्मरण ४. पादसेवन ५. अर्चन ६. वन्दन ७. दास ८. सखा ९. आत्म निवेदन। यह नौ प्रकार की भक्ति का निरुपण किया गया है। श्री गोस्वामी तुलसी दास जी ने भी **नवधा भक्तियोग** का वर्णन किया है। **प्रथम भगति सन्तन कर संगा। दुसरि रति मम कथा प्रसंगा।।** इत्यादि। इन नौ प्रकार के भक्ति योग के विधान के द्वारा भगवान ने कहा कि इनमे से एक भी किसी के पास हो तो वह मुझे अत्यन्त प्यारा है।

सुधी पाठिको। मेरे भाई बहन। आज के इस कलुषित वातावरण में श्री सद्गुरु देव जी द्वारा दिया गया भक्ति योग ही इस संसार सागर से पार उतार सकता है। क्योंकि जो भी भक्त पार हुआ वह इन्हीं **भक्ति योग, कर्म योग** एवं **ज्ञान योग** के द्वारा ही इस भवसागर को पार हुआ। आप, हम सभी इसी तरह श्री सद्गुरु देव जी के बताये हुए योगों का अनुसरण करें जिससे अपना तो कल्याण होगा ही साथ ही साथ सम्पूर्ण राष्ट्र एवं विश्व का कल्याण होगा।

***

जब तुम दूसरों का सद्गुण देख रहे हो तब समझो आत्म-अभिमानी स्थिति में हो और जब तुम दूसरों के अवगुण देखते हो तब समझो कि देह अभिमानी अवस्था में हो।

भूमविद्या का साधन-साध्य-२

प्रवचनकार : अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती
(संकलनकर्त्री : डा० उर्वशी जे० सूरती, डी. लिट्)

तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः।

(छान्दोग्योपनिषद्)

भगवान् सनत्कुमार ने नारदजी को जिनके कषाय उपमर्दित हो चुके थे तमस् का पार दिखा दिया।' तमस् अर्थात् अज्ञान, अविद्या, अन्धकार। नारदजी ने सनत्कुमार से प्रश्न किया था कि 'कृपा करके आप मुझे शोक के उस पार कर दो।''

तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति

और अन्त में उपनिषद् ने बताया कि सनत्कुमारजी ने नारद को तमस् के परे पहुँचा दिया। इससे यह उपनिषद्-सिद्धान्त स्थापित हुआ कि शोक-मोह इत्यादि- ये सब तमस्-जन्य हैं, अज्ञान-जन्य हैं, आत्मज्ञान के विरोधी पक्ष हैं।

भिन्न-भिन्न दर्शनों में तमस् के भिन्न-भिन्न पर्यायों का प्रयोग मिलता है, जैसे अविद्या, भ्रम, मिथ्या-ज्ञान प्रमाद, अविवेक इत्यादि। ये सब बुद्धि के अन्धकार हैं। आत्मा को सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म को न जानना यह भी तमस् है। और इस अज्ञान के कारण आत्मा को कुछ अन्यरूप जानना, यह भी तमस् है। जिस अन्तःकरण में अहमज्ञः अथवा अहं नात्मवित, अहं शोचामि आदि आध्यामिक वृत्तियाँ उठती हैं, उसी अन्तःकरण में ज **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्** यह वृत्ति उठती है तब उस अन्तःकरणाभिमानी की कृतकृत्यत होती है, तभी वह तमस् के पार स्वकाशरूप आत्मा का 'दर्शन' करता है जो तमस् का भी प्रकाशक है औ तमस् के अभाव का भी प्रकाशक है। ऐसा नहीं होता कि ज्ञानी यह कहे ही नहीं कि 'मैं ज्ञानी हूँ'। ज्ञानी छात ठोंक के कह सकता है कि 'मैं ब्रह्म को जानता हूँ'। वेद का ऋषि बोल ही रहा है कि **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्** ब्रह्मज्ञानी का अपने बारे में ज्ञानी, अज्ञानी या उनसे विलक्षण होने के सब कथन समान हैं क्योंकि शब्द व वाचारम्भणमात्र है, शब्द और उसके अर्थ के आश्रय के सम्बन्ध में उसको कोई विचिकित्सा नहीं है।

हमने एक महात्मा से पूछा : आप अपने को ब्रह्म क्यों कहते हैं ?

महात्मा बोले : तुम अपने को मनुष्य क्यों कहते हो ?

मैं : मैं जानता हूँ कि मैं मनुष्य ही हूँ, अतः अपने को मनुष्य कहता हूँ।

महात्मा : इसी प्रकार मैं भी जानता हूँ कि मैं ब्रह्म हूँ, अतः मैं अपने को ब्रह्म कहता हूँ। तुम अप को मनुष्य कहते हो, हड्डी, चाम, मांस का पुतला ! ऐसा कहने में तो तुमको शरम आती नहीं। और अनुभव से, उपनिषद् से, ब्रह्मविद्या से जानता हूँ कि 'मैं ब्रह्म हूँ, तो मुझको क्यों शरम आनी चाहिए ?

महात्मा ने बमगोला फेंका : शरम उनको आनी चाहिए जो इस हड्डी, चाम, मांस, खून के पुतले व 'मैं' मानते हैं। शरम उनको आनी चाहिए जो अपने को गोरा-काला मानते हैं, जो अपनी लम्बाई-मोटाई नाप

है। शरम उनको आनी चाहिए जो अपने को वासनावान् जमने–मरने वाला मानकर जन्म–मरण के चक्कर में पड़े हैं। मैं अपने को सजातीय विजातीय–स्वगतभेदशून्य सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म जानता हूँ तब मुझे अपने को ब्रह्म कहने में क्यों शरम आनी चाहिए ?

वेदाहमेतं०—यह मन्त्र ऋग्वेद में भी है और यजुर्वेद में भी है।

ऋषि कहता है कि 'मैं इस आदित्यवर्ण वाले महानतम पुरुष (ब्रह्म) को जानता हूँ जो तमस् से परे है। उसको ही जानकर मृत्यु का अतिक्रमण कर जाता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।' यहाँ जो एतम् है वही **तम्** है और जो **तमस्** है यही मृत्यु है। अर्थात् आत्मा की ब्रह्मता को जानकर ही मनुष्य मृत्युरूप **तमस्** को पार कर जाता है।

इस प्रकार तमस् का एक किनारा शोक है, मोह है, मृत्यु है, जड़ता है, दुःख है और दूसरा किनारा प्रसाद है, सर्वग्रन्थि–विप्रमोक्ष है, अमृत है, ज्ञान है, आनन्द है। इसलिए सनत्कुमार ने जब नारद को तमस् का पार दिखा दिया **(तमसस्पारं दर्शयति)** तो अर्थ हुआ कि शोक–मोह–मृत्यु की आत्यन्तिक निवृत्ति प्रदान कर दी। दूसरे शब्दों में भूमविद्या का पर्यवसान जिस **सर्वग्रन्थीनाम् विप्रमोक्षः** में हुआ था, वही वास्तव में तमस् का भी पार है। अविद्या–निवृत्ति ही विद्या का फल है ! अविद्या–निवृत्ति के साथ ही अविद्या–जन्य शोक–मोहादि की सर्वग्रन्थियों का विमोक्ष हो जाता है।

मुण्डकोपनिषद् की श्रुति है :

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

'उस परावर आत्मा को देखकर हृदय की ग्रन्थियों का भेदन हो जाता है, सब संशय–विपर्यय नष्ट हो जाते हैं और उसके सब कर्म क्षय हो जाते हैं।'

भगवान् सनत्कुमार ने यह भूमविद्या प्रदान की नारदजी को जिनका विशेषण श्रुति देती है : **मृदितकषाय (तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति)**। माने मनके कषाय सब उपमर्दित हो चुके थे जिनके, उन नारदजी को भूमविद्या प्रदान की गयी।

कषाय माने क्या ? कुछ लोग गेरुआ वस्त्र को कषाय वस्त्र बोलते हैं। जैसे सफेद कपड़े पर गेरुआ रंग चढ़ा दिया गया है वैसे ही शुद्ध सत्वात्मक ज्ञानात्मक मनपर रंजनात्मक रंग चढ़ा दिया गया है 'यह हमारा दोस्त है, यह दुश्मन है' यह एक रंग चढ़ गया। इसी प्रकार जाने कितने रंग (संस्कार) चढ़ाये गये है मन पर। आप पैदा हुए थे तब क्या आपको मालूम था। यह सब आपके अन्तःकरण पर रंग (संस्कार) चढ़ाया गया है। इन संस्कारों को तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं :

(१) **देहवासना**—'मैं देह हूँ' यह तो माँ–बाप के शरीर में–से ही संस्कार आ जाता है। विचार से इसको काटना पड़ता है।

(२) **लोकवासना**—हमारी इज्जत होनी चाहिए, हमारा महत्व हो, हमें कुर्सी मिले—ये सब लोकवासनामूलक संस्कार हैं।

एक सज्जन थे हमारे परिचित। बड़े विद्वान् थे। एक दिन मार्ग में उन्हें एक भिखारी मिला। बोला : 'बाबू, दो आना दे दो।'

सज्जन : 'क्यों दे दें ?'

भिखारी : 'बाबू, मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी टोपी ऊँची बनी रहे। वे सज्जन थे गांधीवादी, टोपी लगाते थे। तपाक से बोले—'अच्छा, हम तुमको दो आना नहीं, चार आना देंगे, परन्तु यह बताओ कि यदि कोई औरत तुम्हें दो आना दे तो उसको क्या कहोगे ? वह तो टोपी लगाती नहीं।'

अब भिखारी बेचारे को तो कुछ आवे नहीं, चुप हो गया। वे सज्जन बोले 'अच्छा हम बताते हैं। तुम कहना— तुम्हारी जूती की एड़ी ऊँची रहे।'

यह जो एड़ी—टोपी ऊँची रखने के लिए मन में वासना होती है, इसको लोक—वासना बोलते हैं। महन्ती, मण्डलेश्वरी, नेतागीरी, प्रचारक—प्रसारक, सुधारक संस्थापक की जो वासना है वह लोकवासना है।

(३) शास्त्रवासना—जिन चीजों को हम नहीं जानते जैसे स्वर्ग, नरक, धर्म, अधर्म, उनको शास्त्र के द्वारा हमारे मन में घुसाया जाता है और तन्निष्ठ वासना भर दी जाती है इनका रंग मन पर चढ़ जाता है इसी को बोलते हैं कषाय। ये स्वाद में भी कषाय—कसैले होते हैं जैसे हरड़ का, आँवले का स्वाद और रंग में भी कषाय। कोई रंग कच्चा होता है जैसे पारिजात के फूल का या हल्दी का। रंगों तो कपड़ा चमक जाये और धो दो तो खतम। कुछ रंग कच्चे—पक्के होते हैं जैसा नीला रंग। एक धोब में साफ नहीं होता। कुछ रंग बिल्कुल पक्के होते हैं जैसे मंजिष्ठका। चढ़े तो फिर कपड़ा फटने तक चढ़ा ही रहे। परन्तु रंग कैसा भी हो, है चढ़ाया हुआ ही।

आपके अन्तःकरण में चढ़ाये हुए रंग मालूम पड़ते हैं। कौन—से दोस्त और दुश्मन पेट से साथ लाये थे ? कौन—सी भाषा और कौन—सा मजहब और कौन—सी—जाति साथ लेकर पैदा हुए थे ? न भाषा, न नाता—रिश्ता, न मजहब, न जाति, सब यहीं तो आपके मन में भरे गये हैं।

एक करोड़पति का लड़का था। उसे बताया ही नहीं गया कि वह करोड़पति बाप का बेटा है। बीस बरस बीत गये। जब वह विलायत गया और उसने देखा कि उसके आफिसों में हजारों आदमी काम करते हैं, उसके कारखानों में करोड़ों का सामान भरा पड़ा है, देखकर वह लड़का पागल हो गया। धीरे—धीरे उसे ज्ञान होता तो अतिरेक को वह सहन कर जाता।

इसी प्रकार इस संसार का जो कषाय है वह धीरे—धीरे आपके मन में भर दिया गया है और आपका अन्तःकरण अब उसको आत्मसात् कर गया है कषाय अर्थात् राग—द्वेष, मोह। अन्यथा आपका अन्तःकरण शुद्ध सात्विक ज्ञानमय है।

ज्ञान है एक। जब उससे संसार देखते हैं तब उसी ज्ञान का नाम होता है जीव या अन्तःकरण। जब उससे संसार देखना छोड़ देते है, अर्थात् उसमें प्रतिफलित संसार की उपेक्षा कर देते हैं (अथवा जब अन्तःकरण बाधित हो जाता है) और ज्ञान शुद्ध ब्रह्म से एक हो जाता है, तब उसी ज्ञान का नाम ब्रह्म हो जाता है। वही ब्रह्म जब संसार को देखता है तब उसका नाम होता है जीव या अन्तःकरण और वही जीव जब संसार को

देखना छोड़ देता है, तो उसका नाम हो जाता है ब्रह्म। जीव और ब्रह्म चीज एक ही है— ज्ञान। जो मुक्ति का अनुभव कर रहा है वही संसार का भी अनुभव कर रहा है और जो संसार का अनुभव कर रहा है वही मुक्ति रूप है, पहिचानता नहीं। इसीलिए श्रुति ने कहा : **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति=तम् एव विदित्वा एव मृत्युम् अत्येति** =उस ब्रह्मात्मा को ही, किसी अन्य को नहीं, और जानकर ही, कुछ अन्य साधन से नहीं, मृत्यु को तर जाता है।

अज्ञान से जो चीज मालूम पड़ती है वह मिथ्या है, और ज्ञान से जो चीज मिट जाती है वह भी मिथ्या है। ज्ञान से जो चीज मिलती है वह भी मिली हुई रहती है। इस प्रकार ज्ञान से सिद्ध अमृतत्व प्राप्त ही है, उसमें अप्राप्ति का भ्रम तथा मृत्यु की प्राप्ति केवल भ्रम है।

तो **'मृदित कषाय'** माने जिसके अन्तःकरण के कषाय उपमर्दित कर दिये गये हों अर्थात् रौंद डाले गये हों जैसे कोई मिट्टी को रौंदते हैं, पीटते हैं, गीला करके नयी आकृति में ढालते हैं दूसरे शब्दों में जिसके मन में कोई रंग नहीं है वह मृदित कषाय है। रंगहीन अन्तःकरण अपने को आत्मा से भिन्न दिखाता ही नहीं। हमने बहुत कुछ सुना है, उससे संस्कार–विकार अन्तःकरण में आये हैं। एक बार उन्हें दूर कर दो, उन्हें उचन्त–खाते में (बट्टे खाते) डाल दो। फिर देखोगे कि अपने से पृथक् अन्तःकरण कुछ है ही नहीं।

अन्तःकरण का उपादान ब्रह्म है, उसमें आये संस्कार प्रारब्ध एवं क्रियमाण कर्मों से जन्य हैं। माया से वह आत्मा से पृथक् दीखता है और अविद्या से अपना दीखता है। अविद्या नष्ट हो जाने पर अन्तःकरण की पृथक् सत्ता एवं उसका आत्मा से सम्बन्ध बाधित हो जाता है।

न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।
यदर्थप्रतिमानं तत् मन इत्यभिधीयते।।

'न बाहर मन है, न भीतर मन है। अर्थ भान का नाम मन है, प्रतिमान का नाम मन है।'

जितने दुनिया के रंग चढ़े हैं सब उधार का माल है। उदाहरणार्थ 'मकान मेरा है'—इसमें मेरापना उधार है। जब तुम नहीं थे सम्भवतः तब भी मकान था (नहीं तो उसका मसाला कंकड़, पत्थर, ईंट, चूना तो था ही)। जब तुम नहीं रहोगे मकान तब भी रहेगा। तुमने मकान बनाया, तुम्हारे लड़के, पोते तोड़ सकते हैं। फिर मकान तुम्हारा कैसे ? इसी प्रकार, यह नोटका बण्डल; हीरा–मोती, नाते–रिश्ते सब उधार हैं, सब पराये हैं, जिनको तुमने अपने मन में 'मेरा' कहा है।

कंकड़ चुन–चुन महल बनाया, लोग कहें घर 'मेरा'।
ना घर मेरा ना घर तेरा, चिड़िया रैन बसेरा।।

चिड़िया उड़ जाती है, देह गिर जाता है कुछ हाथ नहीं लगता है, हाय–हाय करते मर जाते हैं।

वेदान्ती लोग ब्रह्मचिन्तन में चार विघ्न मानते हैं : लय, विक्षेप, कषाय, रसास्वाद। यहाँ 'मृदित कषाय' में 'कषाय' शब्द को इन चारों विघ्न का प्रतीक मानना चाहिए।

(१) लय—अर्थात् मनका डूब जाना, तमोगुण, जड़ता अर्थात् बुद्धि में कुछ न सूझना। सत्संग में बैठे वेदान्त सुनने, परन्तु सो गये, सिर झुक गया, देह गिर गयी, साँस बढ़ गयी, कभी–कभी मुँह से लार भी निकल

आयी। यदि पूछो कि क्या हुआ तो बेवकूफ लोग कहेंगे वेदान्त सुनते–सुनते समाधि लग गयी।' यह समाधि नहीं लय है और तुम्हारी वेदान्त साधना का विघ्न है।

एक बात स्पष्ट कर दें। सभा में जो ध्यान लगता है वह ध्यान दम्भ होता है शास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि सभा में बैठ के आसन जमाना, पीठ की रीढ़ सीधी करना, आँखों को निर्निमेष कर देना जैसे मानो शान्त, ध्यानस्थ हो गये हों, इसका नाम ध्यान नहीं है सच्चा ध्यान भरी सभा में नहीं लगाया जाता।

जब हम गोरखपुर में थे, हमारे पास एक अवधूतजी रहते थे। हमसे उम्र में पन्द्रह बरस बड़े हैं। भाईजी श्री हनुमान प्रसाद जी के मित्र थे। वे छोटे–छोटे बच्चों को बुलाते और कहते 'आओ, आओ, तुम्हें ध्यान लगवाते हैं। देखो, बैठो सिद्धासन से। हाथ ऐसे रखो, पीठ की रीढ़ सीधी करो, आँखें ऐसे करो। लो, लग गया ध्यान।' अब बेचारे वे पाँच–पाँच, छः–छः बरस के बच्चे वे क्या जानें ध्यान क्या होता है ? ध्यान की मुद्रा को ही वे ध्यान समझते थे। उनके लिए तो खेल था वह। उनकी नानी पूछती कि क्या कर रहे हो, तो कहते 'हम ध्यान कर रहे हैं।' तो आजकी सभा में ध्यान लगाने वालों की भी ऐसी ही दशा है। ये बड़े–बड़े बच्चे, उन्हें मालूम नहीं ध्यान क्या होता है ? वे जोर से चिल्लाने को भजन समझते हैं और वेदान्त के भजन–कीर्तन गा–लेने को ब्रह्मचिन्तन !

तो ब्रह्मचिन्तन का विघ्न है मन का सो जाना, गुम हो जाना। यह लय है। लय कषाय है। लय से न ध्यान होता है, न भक्ति और न ब्रह्मचिन्तन। भगवान् की स्मृति में बाधक होने से यह भजन नहीं है और मनन–निदिध्यासन में बाधक होने से यह वेदान्त का साधन नहीं है।

(२) विक्षेप—अर्थात् चाञ्चल्य। कुर्सी पर बैठे हैं परन्तु पाँव हिला रहे हैं। एयरकन्डीशण्ड कमरे में आरामकुर्सी पर लेटे हैं, पंखा चल रहा है, और ब्रह्मचिन्तन कर रहे हैं ! वाह ! कभी हवा आके गुदगुदा जाती है, कभी एयरकण्डीशन की हवा ठण्डी लगती है, कमरे में कभी नौकर आके चला जाता है– माने विक्षेप तो बना ही हुआ है, उसमें ब्रह्मचिन्तन की धारा तो टूटती ही है। ब्रह्मचिन्तन में मन का लय होना चाहिए न विक्षेप।

लये सम्बोधयेत् चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
स कषायं विजानीयात् समप्राप्तं न चालयेत।।
यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिंगनमनाभासं सम्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।।

जब चित्त लय को प्राप्त हो तो उसको सम्बोध करें। जब चित्त में न लय हो और न विक्षेप; अर्थात् न तो मन में बाहर के विषय प्रविष्ट हों और न चित्त के संस्कार उद्बुद्ध हों, उस समय किसी भी प्रकार के आभास से रहित चित्त ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मचिन्तन में विक्षेप विघ्न है। उस समय शरीर की मक्खी उड़ाना, या पसीना पोंछना या पंखा चलाने की इच्छा होना, यह सब विक्षेप है।

(३) कषाय—चित्त के रंग। कोई सफद है तो कोई लाल और कोई काला। सात्विक संस्कार सफेद हैं। वे विघ्न हैं इस अर्थ में कि वे ब्रह्माभ्यास से चित्त को भटका देते हैं साधनान्तरों के सुखों में। रजोगुणी संस्कार

लाल रंग के हैं। वे मनुष्य को राग में, द्वेष में; कर्म में भटकाते है और ब्रह्मचिन्तन से विरत करते हैं। तमोगुणी संस्कार काले रंग के हैं। वे आलस्य, प्रमाद, मोह के द्वारा जीव को ब्रह्मचिन्तन से विरत करते हैं। 'क्या रखा है त्याग में, वैराग्य में ? क्या ज्ञान; क्या विज्ञान, सब एक ही हैं।' यह विचार चित्त का तमोगुण–जन्य विघ्न है।

(४) **रसास्वाद**—अल्प में सुखका स्वाद लेना, आसक्ति रखना।

नास्वादयेत् सुखं तत्र निस्संगः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चरन् निश्चलच्चित्तं एकीकुर्याद् प्रयत्नतः॥

अच्छाजी; चित्त में न लय है न विक्षेप, माने चित्त न तो सोता है और न शरीर से बाहर निकलता है, चित्त अपने भीतर भी झूमता नहीं है। चित्त को अपने आत्मा से भिन्न भी नहीं देख रहे हैं। बहुत बढ़िया अवस्था हो गयी चित्त की। बहुत मजा आया इस ब्रह्मचिनतन में। तो यह मजा आत्मानन्द था कि स्थित्यानन्द ? यह आत्मानन्द था कि विषयानन्द ? तुमने मजा लिया तो तुम इस चिन्तन के भोक्ता हो गये। यही रसास्वाद है। भोक्ता की यह स्थिति अकर्ता—अभोक्तारूप स्वप्रकाश होने में बाधक हो जायेगा। बाबू ! इससे राग की वासना दृढ़ होगी, और तुम रागी बन जाओगे; अपने अन्तःकरण में ही अटक जाओगे ! अन्तःकरण की स्थितियों में ही लटक जाओगे और ब्रह्म तो दूर ही रह जायेगा।

उपर्युक्त चारों विघ्नों से जब ऊपर उठोगे तब निर्विघ्न तत्वज्ञान होगा। अब आप लोग तो तीन मिनट में ही ब्रह्म होकर लौट आते हो। इसमें कोई क्या करे। यह ठीक है कि शास्त्र में वर्णन है कि फूल मसलने और पलक गिरने में तो कुछ समय लग सकता है, परन्तु ब्रह्मज्ञान होने में समय नहीं लगता। जनकादि के उदाहरण भी हैं शास्त्र में। परन्तु आप जनक तो बनना चाहेंगे परन्तु उन्होंने पहले कितनी तपस्या की, यह बात आपके ध्यान में नहीं आती।

विघ्नों के अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान में चार प्रतिबन्ध भी है :—प्रज्ञामान्द्य, कुतर्क, विषयासक्ति और विपर्यय में दुराग्रह। प्रतिबन्ध अर्थात् ब्रह्मज्ञान के होने में रुकावट क्या है ?

(१) **प्रज्ञामान्द्य**—अर्थात् बुद्धि का स्थूल होना। सूक्ष्म विषयों का बुद्धि द्वारा अग्रहण। आपकी बुद्धि संसार के स्थूल या अशुद्ध विषयों में तो सरपट दौड़ती है कि अमुक की बहू–बेटी में क्या दोष है, कि हमारा दुश्मन क्या–क्या गलती करता है अथवा दुनिया का वैभव न्याय से या अन्याय से कैसे इकट्ठा किया जा सकता है परन्तु यदि आत्मचिन्तन की बात आयी तो जैसे मानों ताकत ही नहीं है। यही प्रज्ञामान्द्य है। मुमुक्षु की प्रज्ञा ब्रह्म विषय में पैनी होनी चाहिए।

(२) **कुतर्क**—कुछ होते हैं कि हर बात में बाल की खाल निकालते है— ऐसा कैसे होगा, ऐसा कैसे होगा ? उन्हें बस बात काटना, समझने की कोशिश नहीं करते। श्रद्धा है नहीं, तर्क के नामपर कुतर्क करते हैं। गुरु और शास्त्र के वाक्यों में अनुकूल युक्तियों का प्रयोग तो सुतर्क है, परन्तु बात को सोचा नहीं, समझा नहीं, इधर बात निकली और उधर तलवार निकालकर काट दिया— यह कुतर्क है। कुतर्क का निवारण क्या है कि जो बात कही जाय उसमें मिनट, दो मिनट, घण्टा–दो–घण्टा, दिन–दो–दिन लगाये जायं, उसको समझने

की कोशिश करें अन्यथा उस विषय में प्रश्न करके जिज्ञासा शान्त करें।

(३) विषयासक्ति—संसार के विषयों में सत्यत्व–बुद्धि, सुख–बुद्धि और पुनः पुनः रमणीयता बुद्धि होना, यह विषयासक्ति का लक्षण है।

(४) विपर्यय में दुराग्रह—आत्मा को अज्ञान के कारण जो अन्य मान लिया है उसी मान्यता को दृढ़ता से पकड़ रखना— विपर्यय में दुराग्रह है। 'मैं हिन्दू हूं, मैं ब्राह्मण हूँ'— ये अक्लिष्ट विपर्यय हैं। 'मैं चोर हूं, मैं व्यभिचारी हूँ'—ये क्लिष्ट विपर्यय है 'मैं ब्राह्मण हूँ तो सन्ध्या –वन्दन कैसे नहीं करूँगा। गायत्री का जप कैसे नहीं करूँगा, अपवित्र भोजन कैसे करूँगा— यह साधक (अक्लिष्ट) विपर्यय है। यों आत्मा को ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी मानना विपर्यय ही है। परन्तु लोग होते हैं महाराज, कि पंचों की राय सिर माथे पर परन्तु पनाला यहीं गिरेगा। हम ब्रह्म सही, परन्तु 'मैं अमुक गोत्रका शर्मा हूं, परिच्छिन्न हूं, यह मान्यता उनकी नहीं कटती। यही विपर्यय में दुराग्रह है।

कठोपनिषद् में चार बातें कहीं गयी हैं—

१. आपके जीवन में जो दुश्चरित्र हैं उनको छोड़िये।

२. आपके भीतर जो काम–क्रोधादिका वेग है उसे शान्त कीजिये।

३. आपके मन में जो विक्षेप है उसे शान्त कीजिये।

४. सिद्धियों के चक्कर में मत पड़िये। किसी के भभूत बरसाने, शहद गिराने या घड़ी–जेवर आकाश में–से प्रकट कर देने के चक्कर में मत आइये। ये तो आप बाजार से भी खरीद सकते हैं। इनमें ब्रह्म नहीं मिलेगा। बारह वर्ष बड़ी तपस्या की ओर खड़ाऊँ पहनकर पानी पर चलने का सामर्थ्य आ गया तो क्या ? यह तो मल्लाह को दो आना देकर भी बारह मिनट में नदी के पार जाया जा सकता है। इससे ब्रह्म नहीं मिलेगा। सिद्धि की लालच जिसके मन में हो जाती है उसे ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता। स्वयं सिद्ध हो गये तब भी नहीं होगा।

तो नारद मृदित कषाय हैं। इसका अर्थ है कि उनका अन्तःकरण तीनों प्रकार की वासनाओं, चारों प्रतिबन्धों और कठोपनिषद् वर्णित चार दुराचरणों से विनिर्मुक्त है। तभी तो भगवान सनत्कुमार ने उन्हें भूमविद्या के श्रवणमात्र से ही तमस् का दूसरा किनारा (ब्रह्मज्ञान) दिखा दिया।

तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पार दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः॥

> *हृदय को पवित्र किये बिना शरणागति नहीं होगी तथा ईश्वर के सम्मुख जाये बिना हृदय पवित्र नहीं होगा। यही है आत्मिक साधना का सार। ईश्वर आत्मस्थ है अर्थात् आत्मा के भीतर उसी का वास है।*

यौगिक विचार—प्रसून

(योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन जी महाराज)

योग जिस समय निर्जीव समाधि में समाधिस्थ होता है उस समय वह अपने नित्य शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है। किन्तु ज्योंही समाधि से उठता है तो यह नियम है कि वह वृति सारूप्य हो जाता है अर्थात् व्युत्थान के समय जैसी चित्त वृति होती है पुरुष उसमें मिला हुआ सा ही रहता है। इसीलिए योग दर्शनकार ने कहा है—**वृत्ति सारूप मितरत्र**

* * *

जहाँ पर साधक को असम्प्रज्ञात का उदय होता है वहाँ पर चित्त—वृत्तियों का गुणाधिकार भी समाप्त होने लगता है। और जहाँ गुणाधिकार समाप्त होने लगता है वहीं से असम्प्रज्ञात योग का शुभारंभ होने लगता है। इस गुणाधिकार की समाप्ति के लिये यह आवश्यक है कि साधक चित्त व उसकी वृत्तियों के भेदों से भली प्रकार परिचित हो। परिचित होने पर ही वह उनके गुण—धर्म आदि को जान सकेगा।

* * *

जो मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर आता है वह दृश्य की त्रिगुण सत्ता से निकलना चाहते हुए भी नहीं निकल सकता। क्योंकि उस पर गुणात्मक प्रभाव बना ही रहता है। और मन में जिस प्रकार का गुण प्रभाव होता है मनुष्य उसी प्रकार की चेष्टायें किया करता है। यही चेष्टायें (हरकतें) कर्म का रूप धारण कर लेती हैं। मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा का मूर्त परिणाम कोई न कोई कर्म ही होता हैं।

योग दर्शन में भगवान पतंजलि देव ने लिखा है कि मनुष्य की हर चेष्टा जिनसे अच्छे बुरे का सम्बन्ध जुड़ा रहता है। अर्थात् **कुशला—कुशलानि'**— यही ठीक प्रकार से कर्म की परिभाषा है और जिसमें कुशलाकुशल कर्म जमा होते रहे उसी को **कर्माशय** कहा जाता है। यह कर्माशय क्लेश मूलक होता है। अथवा यों समझ लीजिये कि क्लेशों के आधार पर ही कर्माशय का आरम्भ होता है।

यह कर्माशय दो प्रकार का माना गया है। एक दृष्ट जन्म वेदनीय और दूसरा अदृष्ट जन्म वेदनीय। कर्म मीमांसा पर विश्वास न करने वाले व्यक्तियों के लिए दृष्ट जन्म वेदनीय कर्माशय एक सच्चे साक्षी के रूप में हमारे सामने आता है। यथा जो व्यक्ति सदाचार परायण और स्वाध्याय शील होते हैं, गुरुअदत्त मन्त्र का जप करते हैं। तप का मार्ग अपनाते हैं समाधि का अभ्यास करते हैं। ईश्वर, देवता और ऋषि—मुनियों के प्रति श्रद्धा और आस्था रखते हैं। उनके पुण्यमय कर्माशय का परिपाक बहुत शीघ्र हो जाया करता है और उनके पुण्य कर्मों का फल

तत्काल सामने आ जाया करता है। आवश्यकता इस बात की है कि साधक सभी साधनाओं को तीव्र संवेग के साथ करता रहे।

* * *

इसी प्रकार प्रतिकूल इसके जो मनुष्य पाप कर्मों में रत रहते हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि जिनकी वृत्तियों में समाये रहते हैं। देवता और तपस्वियों का अपमान करते रहते हैं। शास्त्र के वचनों पर जिन्हें विश्वास नहीं होता वे भी अपने पापमय कर्माशय का फल शीघ्र इसी जन्म में पाया करते हैं। क्योंकि उनके सभी तामसी और रजोगुण प्रधान आचरण तीव्र संवेग के साथ हुआ करते हैं। अतः साधक को चाहिए कि वह पुण्यमय कर्माशय की पूर्णता नित्य करते रहे ताकि वे उत्तरोत्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते रहें।

* * *

लेकिन इस सत्य को भी नहीं भूलना चाहिए कि क्षीण क्लेश योगियों के पाप पुण्य फल का दाता कर्माशय नहीं हुआ करता। जो साधक दृढ़तर अभ्यास में संलग्न रहते हैं, वे अपने पाप पुण्य के कर्माशय को खत्म करके निष्काम कर्मयोगी बन जाया करते हैं। और ऐसे योगी किसी भी प्रकार कर्म—फल के बन्धन में नहीं बँधा करते। फलासक्त प्राणी ही कर्म बन्धन में बँधा करते हैं। अतः साधकों को उचित है कि केवल लोग संग्रह के लिए ही कर्म करते रहें। लोक संग्रह हेतु किये कर्म ही निष्काम कर्म कहलाते हैं। निष्काम काम का अर्थ यही है कि जो कुछ भी किया जाय उसका फल भगवान या भगवान की सृष्टि के प्राणियों को अर्पित कर दिया जाय। कर्मों के फल की स्वार्थमय अभिलाषा ही बन्धन का कारण बन जाया करती है।

* * *

भगवान पतंजलि देव ने **ईश्वर प्रणिधानाम्**—अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से भी समाधि लाभ होता है। जब इस सूत्र की रचना की तब उनसे पूछा गया कि 'ईश्वर क्या है' यह बताने की कृपा तो करें तब उन्होंने तत्काल कहा—**क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः** पुरुष विशेष ईश्वरः अर्थात् क्लेश कर्म उनके फल और वासनाओं से अपरामृष्ट अर्थात् स्पर्श न किया हुआ, अन्य पुरुषों से विशेष यानी जो औरों से उत्कृष्ट है, वह ईश्वर है। भगवान पतंजलि देव ने आगे फिर कहा **तत्र निरतिशय, सर्वज्ञ बीजम्**—अर्थात् ईश्वर में सर्वज्ञ बीज की पराकाष्ठा है यानी उस ईश्वर से बढ़कर अब तक न कोई हुआ है न होगा और वह **'पुर्वेषामपि गुरुः कालेनावच्छे ।त्'** अर्थात् वह काल की सीमा से भी परे है। सबसे पहले वह था इसलिए वह हिरण्यगर्भादि का भी गुरु है। यही संक्षेप में ईश्वर का स्वरूप है जो ऐसे सर्वोत्कृष्ट, सर्वेषामपि गुरु और सर्व शक्ति सम्पन्न ईश्वर की अनन्य भाव से भजता है

वह भी सहज समाधि के लाभ का अधिकारी अनायास हो जाया करता है।

* * *

तस्य वाचक: प्रणव:।

प्रणव अर्थात् ओ३म् ईश्वर का बोधक नाम है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी की सत्ता प्रणव में विलीन हो जाती है। इन तीनों की उत्पत्ति इसी प्रणव से है। प्रणव अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है— इसलिए प्रणव का जप करते हुए हम ईश्वर का अभिमुखीकरण कर सकते हैं। यानी हम ईश्वर सत्ता का सामीप्य प्राप्त कर सकते हैं। भगवान श्री कृष्ण ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन्माम नु स्मरन्
य: प्रयाति त्यजन्देह, स याति परमां गतिम्

चित्त की वृत्तियां शाखा प्रशाखा रूप से चाहे कितने ही रूप धारण कर ले किन्तु वे सब की सब प्रमाण विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति के अन्तर्गत ही होती हैं। इन वृत्तियों के निरोध होने पर छोटी–मोटी सभी वृत्तियाँ स्वत: ही निरुद्ध हो जावेंगी।

* * *

संयमित मन वाले योगी की बुद्धि शुद्ध और परम निर्मल होने के नाते वह जिस वस्तु का साक्षात्कार करना चाहे उसका साक्षात्कार उसके संकल्पमात्र से ही हो जाया करता है संकल्प मात्र से ही वह वस्तु तत्व को जान लेता है। क्योंकि उसके शुद्ध सात्विक मन में उस परम सद्गुरु का प्रकाश सदा भरा रहता है।

* * *

स्वाध्याय और जप ही जीवात्मा को परमात्मा की ओर अभिमुख करने का मुख्य साधन है। जो मनुष्य अनवरत स्वाध्यायशील रहता है एवं ईश्वर के प्रमुख नाम प्रणव (ॐ) का जप करता है वह अल्प समय में ही अपने अभ्यास के बल से ईश्वर को अपनी ओर अभिमुख कर लेता है। और ईश्वराभिमुख होने के परिणामस्वरूप समाधि को पा जाया करता है। समाधि लाभ होने पर सभी प्रकार के अन्तराय एवं पापों का नाश हो जाया करता है। अत: योगमार्ग के साधक को सदैव स्वाध्यायशील रहना चाहिए और बिना किसी प्रमाद के ईश्वर के मुख्य नाम 'प्रणव' की जप आराधना में तन्मय रहकर प्रभु का सानिध्य प्राप्त करते रहना चाहिए।

* * *

एक साधक ने उपर्युक्त सन्दर्भ में पूछा—गुरुदेव ईश्वराभिमुख का मतलब क्या है ? ईश्वर

तो हर समय रहता ही है। मैंने कहा ठीक है.ईश्वर हर समय हर जगह है किन्तु अभिमुखीकरण का अर्थ है ईश्वरीय तेज का अनुभव करना। जब इस ईश्वरीय तेज को जीव निरन्तर ही जप साधना से अपने में साक्षात् अनुभव कर लेता है तो सिन्धु में बिन्दु की तरह वह स्वयं सत्ता को सदा सर्वदा के लिये परमात्मा सत्ता में विलीन कर देता है। यानी वह परमात्मा सत्ता से एकरूप हो जाता है इसी जीव सत्ता और परमात्मा सत्ता की एकरूपता का नाम समाधि है।

समाधि समतावस्था जीवात्म परमात्मनः

* * *

ईश्वर प्रणिधान के द्वारा समाधि सिद्धि का साधन सरलतम साधन है। अन्य साधनों के समान इसमें कष्ट नहीं उठाना पड़ता। आवश्यकता है केवल प्रभु के अनन्य चिन्तन की अनवरत ध्यान की और सर्वकर्म समर्पणता की। ब्रज गोपियों के समान—

''ना मैं देखों और कूं, ना तोहि देखन देहुँ''॥
आरे मेरे मोहना, पलक मूंदि तोहि लेहुँ

अनन्य चिन्तन की जब ऐसी स्थिति हो जाती है तभी जीव की अपनी सत्ता परमात्मा सत्ता का साक्षात्कार कर लेती है— इसी को कहते है **सहज समाधि**।

* * *

योग मार्ग के साधक के लिए 'एकान्तवास' का विशेष महत्व है। आदिकाल से इसलिए योगियों के स्थान (मठ आदि) निर्जन स्थानों में हुआ करते थे। यदि साधना का स्थान एकान्त प्रदेश में नहीं है तो अभ्यास भली प्रकार नहीं हो सकेगा। लेकिन स्थान की एकान्त प्रियता भोगविलास में रत रहने वाले व्यक्तियों में नहीं आ सकती। ऐसे लोगों को एकान्तवास उनमे दुर्भावनाओं की वृद्धि ही करेगा। अतः एकान्तवास के इच्छुक साधकों को अपरिग्रह, एक ब्रह्मचर्य आदि व्रतों का पालन करने वाला होना चाहिए यती और व्रती साधक ही एकान्तवास की महिमा को समझकर उसे पाने का प्रयत्न करते है

मनुष्य का मन ज्यों–ज्यों पवित्र होकर दुर्वासनाओं से दूर होता जाता है त्यों–त्यों उसकी संकल्प शक्ति बलवान होती चली जाती है। संकल्प शक्ति के सहारे मनुष्य बड़े–बड़े ऐश्वर्यों की उपलब्धि कर लिया करता है इसलिए शास्त्रों में कहा गया है **संकल्पमयी अयं पुरुषः** अर्थात् मनुष्य संकल्पों का ही रूप है। व्रत नियम आदि सब का जन्म और स्थिति संकल्प से ही माने जाते हैं। यह संकल्प मन की एक निश्चयात्मक शक्ति होती है। इसलिए वेदों में कहा गया है—

तन्मे मनः शिव सकल्पमस्तु !

अर्थात् मेरा मन पवित्र संकल्पों वाला हो। बिना पवित्र संकल्पों के योगाभ्यास की कोई भी साधना दूरुतर नहीं हो सकती।

समस्त साधनाओं की नींव श्रद्धा

ब्र. ओम प्रकाश

इस कलिकाल मे संसार से वैराग्य होना मुश्किल है फिर तत्व ज्ञानी सिद्ध योगी का मिलना मुश्किल है। सिद्ध योगी सतगुरु मिल भी गये तो उनमें श्रद्धा होना और उसका सदा के लिए टिकना मुश्किल है। योग ध्यान के द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति बनाकर माया रूपी आवरण भंग करके जीवात्मा को प्रकृति के बन्धन से मुक्त करना ही पुरूषार्थ है इस पुरूषार्थ भवन का प्रथम सोपान है श्रद्धा। गुरू शिष्य सम्बन्धों को सुखद बनाने में श्रद्धा सहायक होती है बिना श्रद्धा का आश्रय लिए शिष्य को गुरू कृपा प्राप्त नहीं हो पाती। अतः ऐसी महिमा मयी श्रद्धा माता को हम सब को सदा अपने मन मन्दिर में विराजमान करके रखना चाहिए। इस श्रद्धा को ही परम आनन्द के आगार भूम पुरूष के साक्षात्कार करने में प्रमुख साधन बताया गया है। श्रद्धा शब्द **श्रद् + धा** के योग से बना है **'श्रद्'** का अर्थ है **सत्** और **'धा'** का अर्थ है **धारण करना।** सत् स्वरूप सतगुरू और सत् स्वरूप सत्यनारायण को धारण करने की जो मनोवृत्ति या झुकाव होता है उसी को श्रद्धा के नाम से इंगित किया जाता है। आध्यात्मिक जीवन की सफलता के लिए श्रद्धावान बनने की अनिवार्यता की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। श्रद्धा सर्वत्र सर्वकाल हमारे हृदय में समायी रहेगी तो निः संदेह हमारे सभी कार्य ऊर्ध्व गती प्रदान करते रहेंगे। सभी विशिष्टताओं का आदि मूल श्रद्धा है। श्रद्धा अगर नहीं है तो अन्य दूसरे गुण भी विकसित नहीं हो सकते अतः मानना होगा कि योग, भक्ति, कर्म अथवा ज्ञान आदि सभी आध्यात्मिक मार्गों में श्रद्धा की अपनी उपयोगिता और महत्ता है। श्रद्धा चित्त का सम प्रसाद है, वह योगी की कल्याणमयी मा की तरह रक्षा करती है उसे पालती पोषती है। योग दर्शन में बताया है **''श्रद्धा वीर्य्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम्** अर्थात् जिनका उपाय प्रत्यर्य है उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा इन सब उपायों द्वारा **असम् प्रज्ञात योग** सिद्ध होता है।

इस प्रकर श्रद्धा युक्त विवेकार्थी मे वीर्य उत्पन्न होता है। वीर्यवान मे स्मृति उपस्थित होती है। स्मृति की उपस्थिति से चित्त आकुल होकर समाहित होता है। समाहित चित्त मे ही प्रज्ञा का विवेक या विशिष्टता उत्पन्न होती है। इस विवेक या विशिष्टता से ही योगी वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करता है। श्री मद्भगवतगीता में योगेश्वर श्री कृष्ण कहते हैं सम्पूर्ण योगियों में भी वह श्रद्धावान योगी मुझे परम श्रेष्ठ और मान्य है जो अन्तर्आत्मा को लगाकर निरन्तर मुझे भजता रहता है। संसार बन्धन से छूटने और मुक्ति पद पाने के लिए जिस पवित्रतम ज्ञान की आवश्यकता है वह सात्विक श्रद्धा वान पुरूषों को ही सुलभ हो पाता है। सतगुण समन्वित श्रद्धालु व्यक्तियों को ही उर्ध्व गती प्राप्त हुआ करती है। इस प्रकार हम देखते है कि श्रद्धा मनुष्य के जीवन की सर्वाधिक मूल्यवान वस्तु है। जिसके जीवन में श्रद्धा है उसके जीवन मे सब कुछ है। क्योंकि श्रद्धा से ही गुरू, गोविन्द और ज्ञान मिलता है। श्रद्धा गयी तो गुरू और ईश्वर को देखने वाली आँख गयी। श्रद्धा प्रेम की पराकाष्ठा है। यह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है **सात्विक, राजस और तामस,** सात्विक श्रद्धा वाला साधक निराला होता है। परमात्मा और गुरूदेव की ओर से चाहे जैसी कसौटी हो वह धन्यवाद, अहो भाव से भरकर उनके हर विधान को मंगलमय समझकर हृदय से स्वीकृति देता है। इस कलिकाल में प्रायः

राजसी और तामसी श्रद्धा वाले ही लोग अधिक होते हैं। तामसी श्रद्धा वाला व्यक्ति कदम–कदम पर इंकार करेगा विरोध करेगा पर अपना अहंकार नहीं छोड़ेगा। अपने गुरू के साथ भी विचारों से टकरायेगा। इसी प्रकार राजसी श्रद्धावाला साधक गुरूदेव के द्वारा जरा सी परीक्षा हुई अथवा थोड़ी सी डाट पड़ी तो वह भाग जायेगा। केवल सात्विक श्रद्धावाला साधक किसी भी परिस्थिति में डिगेगा नहीं प्रतिक्रिया नहीं करेगा। ये राजसी और तामसी श्रद्धा वाले लोग आत्म ज्ञान की तरफ नहीं चलते। ये तो अपनी इच्छा के अनुसार सद्गुरू से लाभ लेना चाहते हैं। इच्छा निवृति की ओर से प्रवृत्त नहीं हो सकते। जो वास्तविक लाभ ब्रह्म ज्ञानी योगी गुरू देना चाहते हैं इससे वे वंचित रह जाते हैं। एक मात्र सात्विक श्रद्धा वाले को ही ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी माना गया है और केवल वही ब्रह्मज्ञान होने पर्यन्त सद्गुरू में अचल श्रद्धा रख सकता है। वह प्रतिकूलता से भागता नहीं और प्रलोभनों में फँसता नहीं। सन्दीपक की ऐसी ही श्रद्धा थी अपने गुरू के प्रति। सद्गुरू ने कड़ी कसौटियां से संदीपक को दूर करना चाहा अपने से, लेकिन फिर भी वह गुरू से विमुख नही हुआ। उसके गुरू ने कोढ़ी का रूप भी धारण किया, सेवा के दौरान कई बार संदीपक को पीटा भी। इसके बावजूद भी उसने कोई शिकायत नहीं की।

गुरूदेव के कोढ़ी शरीर से निकलने वाला गन्दा खून, पीब, मवाद, बदबू आदि के बावजूद भी गुरूदेव के शरीर सेवा सुश्रुषा से संदीपक कभी पीछे नहीं हटा। भगवान विष्णु और भगवान शिव जब उसे वरदान देने आए तो भी अनन्य निष्ठा वाले संदीपक ने वरदान नहीं लिया। स्वामी विवेकानन्द जी की भी अपने गुरूदेव स्वामी राम कृष्ण परमहंस में इसी प्रकार की श्रद्धा थी तभी तो वह हर परिस्थिति में जमे रहे। इस प्रकार की सात्विक श्रद्धा का निरन्तर बने रहना बहुत कठिन है। क्योंकि हमारी श्रद्धा रजोगुण तथा तमोगुण से भी प्रभावित होती रहती है जिसके फल स्वरूप साधक गुरूदेव की अवज्ञा और कभी विरोध भी कर देता है। अतः जीवन में साधक को सत्व गुण बढ़ाना चाहिए जो साधक अपने जीवन के प्रति लापरवाही करता है उसके अन्दर फिर श्रद्धा का घटना, बढ़ना, टूटना एवं फूटना होता रहता है। फलतः साधक को साध्य तक पहुँचने में वर्षों लग जाते हैं। जीवन पूरा हो जाता है फिर आत्म साक्षात्कार नहीं होता। साधक को सत्व गुण बढ़ाने के लिए श्रद्धा को सात्विक बनाये रखने के लिए सतत अभ्यास करते रहना चाहिए। सत्व गुण बढ़ गया, सात्विक श्रद्धा स्थिर हो गयी तो तत्व विचार अपने आप होता है। सात्विक श्रद्धा की सुरक्षा में साधक को सतर्क रहना चाहिए जिससे इष्ट देव में भगवान में तथा सद्गुरूदेव में सात्विक श्रद्धा बनी रहे सात्विक श्रद्धा ही अपने गुरूदेव में ईश्वर में तथा इष्ट देव में अपने आप को अर्पित करने को तैयार होती है। उदाहरण के लिए जैसे लोहा अग्नि की प्रशंसा करे, अग्नि को नित्य नमस्कार भी करे, अग्नि का जप भी करे और अग्नि के पास भी पड़ा रहे लेकिन जब तक वह अग्नि में प्रवेश नहीं करता अपने आपको अग्नि में समर्पित नहीं करता तब तक लोहा अग्नि मय नहीं हो सकता।

लोहा जब अग्नि में प्रविष्ट हो जाता है तो वह स्वयं भी अग्नि बन जाता है। वह अपने काले रूप को त्याग कर अग्नि के लाल रूप को धारण कर लेता है उसके रग–रग में अग्नि व्याप्त हो जाती है। ठीक उसी प्रकार से साधक जब तक ब्रह्म स्वरूप में गुरू स्वरूप में अपने आप को अर्पित नहीं करता तब तक भले ही वह ब्रह्म का गुरू का गुणान वाद करता रहे ब्रह्म वेत्ता गुरू के गीतगाता रहे, उनकी प्रशंसा करता रहे, नित्य

नमस्कार भी करे, यहाँ तक कि उनके पास भी पड़ा रहे, इससे थोड़ा बहुत लाभ तो होगा लेकिन ब्रह्मस्वरूप गुरू मय नहीं बन पाता। जब साधक अपने आपको ब्रह्म मय गुरूदेव को अर्पित कर देता है तो उन्हीं के स्वरूप जैसा हो जाता है। जीवन के सर्वोच्च मूल के लिए सर्वापर्ण हो श्रद्धा का स्वभाव है। बिना सात्विकी श्रद्धा के जीव का परम कल्याण सर्वथा अलभ्य है। सांसारिक बुद्धि भला श्रद्धा के समान अति उच्च वस्तु को कैसे तौल पायेगी। अतएव भगवती श्री श्रद्धा महारानी को बचावे अपनी बुद्धि के तराजू में तौलने से। श्रद्धा यदि रखते रहे तो यह बढ़ती ही जाती है। श्रद्धा का अन्तिम फल है श्री भगवत प्रेम, गुरू प्रेम या आत्मबोध। बहुत ही सावधानी रखें नास्तिकों से बचावे। क्योंकि श्रद्धा ऐसी जल्दी उड़ जाती है, जैसे कि कर्पूर। इसलिए भी श्रद्धा महारानी को बहुत संभाल के रखे। अत्यन्त आर्त होकर दोनों हाथ जोड़कर श्री श्रद्धा महारानी से इस प्रकार प्रार्थना करे कि मेरी परम दयामयी माँ जब तुम कृपा करके इस अधम जीव के अन्तःकरण में आकर के विराजी हो तो इतनी कृपा और भी करो कि इस अन्तःकरण को अपना निजी घर बना लो। इस प्रकार सर्वतो भाव से भगवती श्रद्धा महारानी का दृढ़ता से अंचल पकड़ लो फिर तो यह दयालुमयी माता अपने पुत्र साधक को निरन्तर ही ऊपर उठाती रहेगी तथा इसको चैन तब मिलेगा जब अपने लाल को भी महेश्वर की गोद में बिठा देगी। जिसके कोटि जन्म के पुण्य उदय होते हैं। उसी के हृदय में सात्विकी श्रद्धा उपजती है बढ़ती है और रुकती है। श्रद्धावान का कभी पतन नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदास जी ने सात्विकी श्रद्धा को गाय से उपमा दी है यथा **''सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय बसि आई''**॥

सात्विक श्रद्धा बुद्धि से परिपूर्ण होनी चाहिए तामसी श्रद्धा का मतलब है मारने वाली गाय जो कि सिर मारती रहे। राजसी श्रद्धा का मतलब है कि गाय मारने वाली नहीं उसके पेट में रोग है इसीलिए दूध रोग पूर्वक ही देता है और सात्विकी श्रद्धा का मतलब है जो गाय मारने वाली भी नहीं है और रोगी भी नहीं जो भीतर बाहर दोनों ओर से शुद्ध है, पवित्र है। श्रद्धा के साथ–साथ विश्वास का भी होना अति आवश्यक है। श्रद्धा के साथ विश्वास न हो तो श्रद्धा बिल्कुल निरर्थक है। तभी तो गोस्वामी तुलसी दास जी ने श्रद्धा को भवानी और विश्वास को साक्षात् शिव स्वरूप बतलाया है इसलिए श्रद्धा और विश्वास दोनों का जोड़ पार्वती और शिव स्वरूप जैसा होना चाहिए। साधक में श्रद्धा और विश्वास दोनों के होने पर ही साधना में सिद्धि और ईश्वर दर्शन होता है। इन दोनों के बिना न तो साधक को सिद्धि ही प्राप्त होती है और न ईश्वर दर्शन। अतः साधक को बड़ी सावधानी के साथ श्रद्धा को संभालना चाहिए क्योंकि श्रद्धा के बिगड़ने पर साधक को जन्मों–जन्मों तक भटकना पड़ता है। साधक का सब कुछ बिगड़ जाय सब कुछ नष्ट हो जाये लेकिन श्रद्धा नहीं बिगड़नी चाहिए, न ही नष्ट होनी चाहिए। श्री मद्भगवदगीता में साधकों के लिए तीन बातें भगवान ने आवश्यक बताई है **''श्रद्धावान लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः''** अर्थात् श्रद्धावाला व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त करता है और साधना में ज्ञान को पाकर तत्पर रहता प्रमादी, आलसी व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त नहीं होता और इसके अलावा जो अपने मन और इन्द्रियों पर संयम रखता है ऐसा व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त कर लेता है। बिना श्रद्धा के मनुष्य अध्यात्म जगत में ही नहीं लौकिक जगत में भी कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। अतः साधक को चाहिए कि वह अपने गुरुजनों पर, अपने धर्म–ग्रन्थों पर तथा ईश्वर पर श्रद्धा रखें। इनमें श्रद्धा रखने से ही इनका ज्ञान व कृपा प्राप्त होगी।

●●●

श्रीसद्गुरूदेव तेजांश : जनकजी

अशोक द्विवेदी

जीवनवृत–पूर्व जन्मों के शुभ संस्कारों से फलीभूत ''पं. जनक प्रसाद द्विवेदी'' जी का जन्म झाँसी जिले के मऊरानीपुर तहसील में पं. गोविन्द दास दुबे एव माता रूकमणि देवी के यहाँ हुआ।

बाल्यकाल से ही आप केदारेश्वर (भगवान भोलेनाथ) एवं हनुमान जी की भक्ति में मस्त रहकर, राम लीलायें, तथा रास लीलाओं में ''कृष्ण'' की भूमिकाओं को बड़े सात्विक एवं श्रद्धाभाव से अभिनीत कर, एवं ''रामचरित मानस'' को सुमधुर कण्ठ से व्यास रूप से दायित्व निभाना अपना कर्तव्य एवं धर्म समझते थे।

यौवनावस्था प्राप्त करते ही आपका पाणिग्रहण संस्कार पं. प्यारी लाल जी शर्मा की सुपुत्री सौ० सुखदेवी के साथ सम्पन्न हुआ। इसी बीच आप एस.पी.आई. इण्टर कालेज में संगीत अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए तथा १९८६ में हिन्दी प्रवक्ता के रूप में सेवानिवृत हुए। इस अध्यापन काल में आपने साहित्य, संगीत, व्यायाम, एवं सम्पादन (अरूणोदय) के रूप में तन, मन, धन से सेवा की।

सद्गुरूदेव के श्री चरणों में आगमन:—आध्यात्मिक क्षेत्र के वटवृक्ष परम आदरणीय श्री ईश्वरी प्रसादजी खट्टर (सद्गुरूदेव के अनन्य प्रिय भक्त) के निवास स्थान पर प्रत्येक रविवार को गुरूदेव का सत्संग हुआ करता था, जिसमे हमारी बड़ी बहिन आशा रानी दुबे जाया करती थीं, उन्होंने पिताजी को भी सत्संग के लिए आग्रह किया, परन्तु पिताजी अपने दैनिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण अनसुनी करते रहे।

परन्तु एक दिन अचानक सद्गुरूदेव की प्रेरणा स्वरूप उन्होंने सत्संग में पहुँचकर अपना लिखित प्रथम भजन **''गुरू चरणों का अभिनन्दन, करूँ मैं बार–बार वन्दन''** मधुर कण्ठ से सुनाया, जिसे सुनकर खट्टर बाबा हतप्रभ रह गये और उन्होंने बाबूजी को श्री चरणों में ले जाने का मन में संकल्प किया जो गुरुपूर्णिका की शुभ घड़ी पर ''सवाई आश्रम'' पहुँचकर पूर्ण हुआ। सर्व प्रथम ही ब्रह्माण्ड नायक सद्गुरूदेव अनन्तश्री चन्द्र मोहनजी महाराज के प्रथम दर्शन ने ही उनके जीवन में अनोखा परिवर्तन ला दिया, उन्हें ऐसा लगा मानो, आज जन्मजन्मान्तर के सारे पुण्यों के फलस्वरूप एक अनमोल निधि प्राप्त हो गयी हो, जिनके सानिध्य में ही जीवन की मुक्ति संभव है। इसके पश्चात आशा बहिन जी ने घट–घट वासी गुरूदेव से सांसारिक मर्यादा स्वरूप पिताजी का परिचय कराया, सद्गुरूदेव ने उन्हें अपने हृदय से लगा लिया और चमेली के फूल की माला प्रसाद स्वरूप दी तथा **''जनकजी''** कहकर सम्बोधित किया। इसके बाद तो पिताजी ने प्रभु के आलौकिक चमत्कार का नजारा अपने अनुपात के रूप में, तथा एकाग्र चिन्तन के रूप में देखा, तथा जीवन भर हृदय से श्री सद्गुरूदेव को अपना आराध्य अपना इष्ट, अपने जीवन धन के रूप में स्वीकार किया।

श्री सद्गुरूदेव जी द्वारा ''आशा मंडल'' की आज्ञा—योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज द्वारा अपनी प्रिय कृपापात्री आशा बहिनजी को झाँसी में प्रभुजी का योग प्रचार एवं संकीर्तन करने के लिए अलग से ''आशा मंडल'' बनाने की अनुमति प्रदान की तथा सत्संग दिवस गुरूवार सुनिश्चित किया, जिसका दायित्व अपने लाडले दुलारे एवं श्रद्धा एवं भक्ति से परिपूर्ण आशा बहिनजी के पिताजी श्री जनक प्रसाद द्विवेदी जी

को सौंपा। तथा आर्शीवाद दिया कि "आशा मंडल" अपनी भक्ति रचनाओं एवं संकीर्तन से चारों ओर प्रभुजी का प्रचार व प्रसार करेगा। सद्गुरुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य कर, तथा प्रभु जी से दीक्षा पाकर कृत्य–कृत्य हो गये पिताश्री और जीवन का अधिकतम समय चिंतन, प्रभूचर्चा, एवं भजनों के सृजन में व्यतीत होने लगा। शनैः शनैः सुन्दर भावनात्मक कर्णप्रिय, सद्गुरू देव को प्रफुल्लित कर देने वाले भजनों का सृजन श्री चरणों की प्रेरणा एवं आर्शीवाद स्वरूप होने लगा।

धीरे–धीरे परिवार के सभी सदस्य सद्गुरूदेव से दीक्षा प्राप्त कर सौभाग्यशाली एवं निहाल हो गये, परिवार का प्रत्येक सदस्य सत्संग का अंग बन गया, सभी बड़ी तन्मयता, श्रद्धा–भक्ति से ओतप्रोत होकर, सवाई, ऋषिकेश, अलपुर, लखनऊ, दिल्ली, गंगापुरसिटी आदि आश्रमों में पर्वों पर पहुँचकर प्रभुजी द्वारा दिये दायित्व को निभाकर अपना सौभाग्य मानते थे।

इसी समय पूज्य पिताजी द्वारा **गुरू चालीसा महात्म** का प्रथम संस्करण गुरु पूर्णिमा पर सद्गुरूदेव के पावन चरणों में भेंट किया गया। जिसको सुनकर प्रभुजी ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की एवं आर्शीवाद दिया कि जो भी श्रद्धालु "गुरू चालीसा" का नित्य पाठ करेगा, प्रभुजी उस पर ऐसी आलौकिक कृपा करेंगे जो ऋषि, मुनियों को दुर्लभ है। और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव सत्संग में भाई–बहिनों के अश्रुपातों का होना तथा विभिन्न बन्ध मुद्राओं के दर्शन प्रत्यक्ष प्रमाण है ! इसी के पश्चात निम्न संस्करण प्रभु चरणों में समर्पित किये गये तथा सभी भाई–बहिनों को आश्रमों के विभिन्न पर्वों पर निःशुल्क प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से इनकी प्रतियाँ भेंट की गयी।

१. **गीतावली** (भजनसंग्रह) २. **गुरू गरिमा** ३. **गुरू अर्चना** (गुरु गीता का कवित्यानुवाद) ५. **कविता वली** ६. **गुरू गुन लहरी।**

पूज्य पिताश्री अपने परिवार के सभी सदस्यों को गुरूदेव के रंग में रंगा देखकर अपने जीवन को धन्य समझते थे कि हमारे बच्चे मानव जीवन पाकर योग योगेश्वर अनंत प्रभुजी के तेजांश बने एवं उन सर्वशक्तिमान सिद्धों के सरताज सद्गुरूदेव के पावन चरणों का गुणानुवाद बड़ी श्रद्धा एवं भक्ति से कर अपने जीवन को धन्य कर रहे हैं।

इस सब सुखद शांति के अथाह सागर में बाबूजी ने अपने जीवन की नैया को डाल दिया, और छोड़ दिया उस पार करने का दायित्व अनाथों के नाथ, सर्वशक्तिमान अपने आराध्य सद्गुरूदेव पर !

अब सौंप दिया जीवन, गुरूदेव के चरणों में
जो चाहे करो प्रभू जी, मैं तेरी हूँ शरण में।।
मैं कुछ नहीं हूँ करता, तू ही करा रहा है।
मैं कुछ नहीं हूँ लखता, तू ही दिखा रहा है।
कर्ता तू ही बना है, सब कार्य के करन में–सौंप दिया जीवन.......
इस काम, क्रोध, मोह ने, अंधा बना दिया है
चाहत के लिए अपनी, क्या–क्या नहीं किया है।

अब तेरा सहारा है— इस जिंदगी—मरन में —अब सौंप दिया जीवन....

गुरूदेव की अलौकिक कृपायें—श्री सद्गुरू चरणों में अनवरत चिंतनशील पिताश्री को अचानक २४ जुन ९८ को दोपहर २ बजे श्वांस लेने में अत्यधिकि पीड़ा एवं दिल घबराने की स्थिति हो गई, जो लाख प्रयत्नों के पश्चात भी असहनीय रही, हम सभी भाई—बहिन एवं पुत्रवधु श्री प्रभुजी के दरबार में जा—जाकर उनके पावन चरणों में कष्ट निवारण हेतु प्रार्थना कर रहे थे एवं रज प्रसाद तथा जल (चरणामृत) का सेवन निरंतर पिताजी को करा रहे थे। परंतु फिर भी कोई लाभ क्यों नहीं हो रहा था— हम सब स्तम्भ थे। हम सबने विचार किया कि पिताजी को बीच में बैठा लिया जाय और हम सब चारों ओर से उन्हें घेर लें तथा एकाग्र होकर गुरू मंत्र का जाप करें हमने ऐसा ही किया।

कुछ क्षण बाद ही पिताजी तीव्र स्वर में बोले "क्या (मृत्यु) तू आज आकर ही रहेगी।" इस समय पिताजी का साक्षात्कार श्री प्रभूजी के चरण कमलों से हो रहा था क्योंकि देखते—देखते ही वे लगभग स्वस्थ्य होने लगे और हम लोग डाक्टरी इलाज हेतु इधर—उधर भागने लगे। रात्रि में उन्हें सिविल अस्पताल में भर्ती कराया गया जहाँ आक्सीजन देने के पश्चात उनका शरीर शोधन हो गया और प्रातः ५ बजे हम लोग सकुशल घर वापिस आ गये।

इसके पश्चात गुरूवार के दिन हमारे निवास पर ही सत्संग हुआ और पिताजी ने उच्चस्वर से **"अखण्ड ज्योति प्रभूरामलाल जय—जय"** हारमोनियम के साथ लगभग १० मिनट संकीर्तन किया।

कृपा सागर की अद्भुत लीला को हम सांसारिक प्राणी क्या समझते हैं कि वे किसके माध्यम से अपने बच्चों के क्लिष्ट कर्मों का भुगतान कराते हैं। अगले ही दिन दोपहर लगभग ३ बजे, सद्गुरूदेव के लाडले, अत्यन्त श्रद्धावान, निष्ठावान पूर्ण समर्पित, आचार्य चन्द्रहास जी, सद्गुरूदेव के प्रतिपल सन्निकट आज्ञाकारी बालक आदरणीय भुवनेन्द्र झा, तथा झाँसी योग ज्योति के प्रहस्त प्रहरी भाई कृष्ण कांत झा हमारे निवास स्थान पर पधारे, जिन्हे देखकर मैं सुधबुध भूल गया, मैंने सादर प्रणाम कर यह शुभ संदेश पिताजी को सुनाया।

पिताजी ने आगन्तुक महाभावों को श्रद्धा से नमन कर बैठने के लिए आग्रह किया, इसी बीच भाई भुवनेन्द्र झा ने प्रभू जी की आरती की एवं "आज मोहे गुरूवर की सुध आई" की पंक्ति पिताजी को सुनाई, तथा आचार्य जी द्वारा परिवार के सभी सदस्यों को प्रसाद वितरण किया गया ! आचार्य जी ने पिताजी को हृदय से लगाया एवं कान में कुछ कहा जो हम लोग नहीं सुन सके तथा हम लोगों के समक्ष बोले "द्विवेदी जी अभी प्रभु जी को आपसे बहुत कुछ लिखवाना है, चिंता न करो अभी बहुत समय है।" इसके पश्चात वे प्रभु जी के सन्देशवाहक, प्रहरी, अपने गन्तव्य की ओर प्रस्थान कर गये।

इस प्रकार लगभग एक सप्ताह का समय नियमित सत्संग, प्रभुचर्या तथा प्रभुजी द्वारा पिताजी के जीवन में अलौकिक कृपा सम्वादों में प्रभुजी के उपकार स्वरूप बड़ी अच्छी स्थिति में व्यतीत हो गया।

दिनांक ८.७.९८ को पिताजी, आशा बहिन जी, शोभा बहिन, प्रेमशर्मा तथा संजु, राजीव गाँधी रिसर्च इन्स्टीट्यूट दिल्ली के लिए रवाना हुए और प्रातः ७ बजे दिल्ली पहुँचे तथा प्रातः ही ९ बजे पिताजी को चैक कराया, और सन्तुष्ट होकर भाई अशोक शर्मा को फोन किया, अशोक शर्मा भाई जी तथा अपनी धर्म पत्नी जो दिल्ली (रोहणी) में रहते हैं कार लेकर आ गये तथा पिताजी, आशा बहिन, तथा शोभा को दिल्ली पावन

आश्रम में ले गये। कुछ समय पश्चात् हम लोग भी वहां पहुंच गये और स्नान आदि से निवृत होकर हम लोगों ने गुरूदेव का पूजन अर्चन किया तथा लगभग डेढ़ घंटे जोरों से सत्संग कर प्रभूजी का भंडारा का प्रसाद पाया, बाबूजी पूर्ण स्वस्थ दिख रहे थे। उन्हें किसी भी प्रकार की परेशानी का अनुभव नहीं हो रहा था।

दोपहर चार बजे हमारे एक गुरु भाई अपनी कार से रेलवे स्टेशन छोड़ गये तथा बड़ी हंसी–खुशी हम लोग ९.७.९८ को रात्रि १० बजे झांसी आ गये।

परन्तु अचानक पुन: कालचक्र ने अपना प्रभाव दिखाया और दिनांक १२.७.९८ को पुन: श्वांस में पीड़ा तथा घबराहट की स्थिति उत्पन्न हो गयी। हम लोगों ने तुरत ही दोपहर ३ बजे उन्हें अस्पताल में भर्ती कराया, परन्तु उस रात उन्हें वह आराम न मिला जो आक्सीजन के बाद मिल जाता था, परन्तु प्रभु चिन्तन एवं स्मरण ने वह भयावह रात्रि सकुशल गुजार दी।

१३ जुलाई १९९८ का दिन रात्रि की अपेक्षा कुछ ठीक रहा, सायं काल ४ बजे पिताजी ने जल संकल्प एवं दक्षिणा पं. ब्रज किशोर पचौरी जी को समर्पित की, एव पांच मानदानों को यथाशक्ति दक्षिणा दे प्रणाम किया। रात्रि लगभग ८ बजे मैंने पिताजी को रज प्रसाद दूध में दिया जिसे उन्होंने बड़े श्रद्धाभाव से शिरोधार्य किया। रात्रि लगभग ९ बजे पुन: तकलीफ बढ़ गयी जो दवा एवं डाक्टरों की कोशिशों के बावजूद भी श्रेयहीन लग रही थी। पिताजी बार–बार **'हे गुरू देव, हे गुरू देव'** का उच्चारण किये जा रहे थे।

हम लोग "योग ज्योति" पुस्तिका का प्रभुजी एवं गुरुदेव का स्वरूप अपने साथ लिये थे, जिसे पिताजी की आज्ञानुसार हर पल साथ रखना था, रात्रि ३ बजे उन्होंने अपना चश्मा, घड़ी दांतों का सेट एवं जेब में रखी चीजें निकालकर फेंक दी और लोई से मुंह ढककर श्वांस–प्रश्वांस द्वारा जोरों से प्रभुजी का चिंतन करते रहे। रात्रि ३–३० बजे उन्होंने गुरूदेव की आरती कराई हमारी छोटी बहिन, किरन, चंदा, प्रेमशर्मा, आरती कर रहे थे और पिताजी मेरी गोदी में सिर रखे लेटे हुए थे, मैं गोदी में उनका सिर रखे हुए भी प्रभु जी के चिंतन में मस्त था।

लगभग ३–४० पर मेरी छोटी बहिन शोभा शर्मा घर से अस्पताल पहुंची। उसने बाबूजी को गंगा जल तथा तुलसी पत्र खाने को कहा। बाबूजी ने गंगा जल का पान किया तथा तुलसी पत्र जीभ के बीचोंबीच खिसकाकर प्राणायाम साधना की स्थिति में निमग्न हो गये। उस समय ३–४५ का समय होगा तभी शोभा बहिन ने याचकभाव से प्रभुजी से पुकार की 'हे गुरुदेव, अब आपके भ्रमण का समय हो गया है, या तो बाबूजी को पीड़ा से मुक्त करो या अपनी अखण्ड ज्योति मे विलीन करो।'

बस इसी के पश्चात्त पिताजी ने लगभग ३–५० प्रात: (१४.७.९८) पंचमी मंगलवार, सूर्य उत्तरायण स्थिति में इस नश्वर शरीर को त्यागकर अपने सद्गुरूदेव की गोदी में हमेशा–हमेशा के लिए शरण ले ली, हम सब स्तम्भमय प्रभु लीला देखते रहे और पिताश्री गुरूदेव धाम को प्रस्थान कर गये।

आज हम सब परिवार के सदस्य ऐसे पिता की सन्तान होनें पर अपना गौरव समझते है जो हरिनाम लेता हुआ जन्मा, और हरिनाम लेता हुआ श्री–हरि के वैकुण्ठ धाम का नक्षत्र बन हम लोगों को, अंधेरे में उजाला, विषाद में धैर्य एवं शान्ति कर्म क्षेत्र में प्रेरणा एवं मार्ग दर्शक स्वरूप बना रहेगा।

● ● ●

महिमानमिति वीतशोक:

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्य
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो–
ऽनीशया शोचति मुह्यमान:।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश
मस्य महिमानमिति वीतशोक:।
(श्वेताश्वेतरोपनिषद् ४/६–७)

पुरुष और पुरुष विशेष (जीवात्मा और परमात्मा) दो पक्षी साथ रहने वाले और मित्र है। वे दोनों एक ही त्रिगुणात्मक प्रकृतिरूप वृक्ष का आलिंगन किए हुए है। उन दोनों में से एक जीव रूपी पक्षी (जन्म, आयु और भोगरूपी सुख–दु:खात्मक) स्वाद वाले फल को खाता है और दूसरा ईश्वर रूपी पक्षी फल न खाता हुआ केवल साक्षी है। तटस्थ होकर देखता रहता है। उसी प्रकृति रूप वृक्ष पर जीवरूपी पक्षी आसक्त होकर असमर्थता से धोखा खाता हुआ शोक करता है, किन्तु जब योग युक्त होकर अपने दूसरे साथी ईश्वर और उसकी महिमा को देखता है, तब शोक से पार हो जाता है।

इस प्रकृति रूपी वृक्ष की जड़ अव्यक्त **'मूल प्रकृति'** है और दिखलाई देने वाला वृक्ष का आधार तना व्यक्त महत्तत्व है। तने में अंकुर अहंकार है, शाखाऐं **तन्मात्राऐं** हैं, पतली शाखाऐं सूक्ष्मभूत और उनसे भी पतली शाखाएँ पत्तों सहित **सोलह विकृतियाँ** हैं। फल, जन्म, आयु और भोग है। उसका स्वाद सुख और दु:ख है। जीव रूपी पक्षी का असमर्थ होने के कारण धोखा खाना क्रमश: अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक **क्लेश** है, उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्म से कर्माशय, कर्माशय से जन्म, आयु और भोग के लिए स्थूल शरीर रूपी अनन्त अस्थिर पत्तों में घूमना है। योगयुक्त होकर पक्षी का ईशरूपी पक्षी और उसकी महिमा को देखना ईश्वर प्राणिधान है।

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008 अक्तूबर, 1998

PRINTED MATTER

Book Post

श्री ---------------------

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एत्मादपुर) आगरा

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।

(गीता २/१६)

इस असत्-नश्वर-मायिक संसार की नित्यता नहीं है और सत्-सत्य स्वरूप ब्रह्म का विनाश नहीं है। ऐसा तत्वदर्शी ज्ञानीजनों का सिद्धान्त है।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिण्टिंग प्रेस, बसई कलाँ, ताजगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिण्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326